

## संपादकीय

मानव की सुख-शान्ति और समृद्धि की चाह ने उसे प्रकृति के रहस्यों को जानने तथा उनको अपने भौतिक सुख के लिए वस्तुगत रूप में परिवर्तित करने की ओर प्रवृत्त किया है, जिसका परिणाम अत्यधिक भौतिक विकास के रूप में हमारे सामने है।

आज भौतिक समृद्धि को सम्मान और सुख का आधार मान लिया गया है। अधिकतर लोगों के लिए भौतिक सुख-समृद्धि ही जीवन का एक मात्र लक्ष्य है। यही कारण है कि शिक्षा का लक्ष्य भी उच्च नौकरी, तकनीकी ज्ञान और अत्यधिक धनार्जन तक सीमित हो गया है। विज्ञान-वर्ग के अधिकतर विद्यार्थी इंजीनियर, डॉक्टर, प्रबन्धक बनना चाहते हैं, क्यों? इसीलिए कि ये पद अत्यधिक पैसे कमाने के स्रोत हैं।

आज एक अयोग्य व्यक्ति जिस पद के योग्य नहीं है वह उसे किसी भी कीमत में पाना चाहता है। चाहे उसके लिए उसे कुछ भी करना पड़े। आज ऐसे ही व्यक्ति समाज में सम्मानित हैं। परिणामस्वरूप मनुष्य के लिए मानवता की जगह भौतिकता आदर्श बन गई है, जिसका नकारात्मक प्रभाव सम्पूर्ण मानव सभ्यता एवं संस्कृति के ऊपर स्पष्ट दिखाई पड़ रहा है।

आज आर्थिक एवं तकनीकी ज्ञान से समृद्ध देश विकसित देश के रूप में जाने जाते हैं, चाहे वहाँ के नागरिकों के आचार-विचार, लोक व्यवहार में कितनी ही गिरावट क्यों न हो? क्या ऐसे देश सही अर्थों में एक सभ्य एवं विकसित देश कहे जा सकते हैं? क्या ऐसे देश के नागरिकों को सभ्य एवं समाज को मानवोचित समाज की संज्ञा दी जा सकती है?

इक्कीसवीं शताब्दी के आते-आते मानव की मान्यतायें इतनी बदल जायेंगी, इसकी किसी ने कल्पना भी नहीं की होगी। आज हम इस बदलाव को अस्वीकार नहीं कर सकते। हमारे सामने केवल एक ही विकल्प है कि हम या तो इस बदलाव के साथ स्वयं को भी बदल दें या इस बदलाव को बदलने का प्रयास करें। इस अमानवीय बदलाव को केवल मानवीय मूल्यों के द्वारा ही बदला जा सकता है, जिसका प्रयास सदियों से अनेक महापुरुषों के द्वारा होता आया है। आज चारों ओर से एक ही ध्वनी सुनाई पड़ रही है कि अब **“नैतिक शिक्षा, मानवीय मूल्यों के बगैर नहीं चलेगा काम”**।

एन सी एफ (नेशनल कैरिकुलम फ्रेम वर्क) ने हाल ही में प्रकाशित अपनी रपट में कहा है कि प्रोफेशनलिज्म लोगों को संवेदनहीन बना रहा है। जैसे-जैसे लोगों का ज्ञान बढ़ता जा रहा है, वैसे-वैसे उनकी क्रूरता भी बढ़ती जा रही है। वह चाहे चिकित्सक हों, इंजीनियर या

प्रबन्धक। विगत कुछ वर्षों में ही उनमें ऐसा बदलाव आया है जो एक संवेदनशील मानवोचित समाज के बजाय मशीनी रिश्तों को बढ़ावा दे रहा है। इस परिवर्तन को रोकने के लिए एक मात्र उपाय है कि शिक्षा के मूल लक्ष्य (चरित्र निर्माण) को केन्द्र में रखकर पठन-पाठन का वातावरण स्थापित किया जाय। प्रत्येक बच्चे को जीवन को सम्पूर्णता में देखने समझने का ज्ञान दिया जाय। समाज के प्रत्येक सदस्य को एक सभ्य मानवोचित समाज के निर्माण का बोध कराया जाय। तभी एक सभ्य, मानवोचित समाज से सम्पन्न नागरिकों का देश बनाया जा सकेगा।

यद्यपि भौतिक समृद्धि की चाह बुरी नहीं है, लेकिन मात्र भौतिक समृद्धि से कोई सुखी नहीं हो सकता। भौतिक समृद्धि के साथ-साथ मानव मूल्यों को भी आत्मसात करके ही सुखी हुआ जा सकता है। इस दृष्टि से भी मानव मूल्यों की शिक्षा, संस्कृति की आवश्यकता समझ में आती है। इसके अतिरिक्त किसी और विकल्प की बात करना अपने आपको गुमराह करने के समान है। आज नहीं तो कल, हमें मानव मूल्यों द्वारा निर्मित शिक्षा, संस्कृति, सभ्यता को ही आत्मसात करना होगा। यदि मूल्य परक व्यवस्था को हमने किन्हीं कारणों से आत्मसात करने में देरी की तो सम्पूर्ण प्राकृतिक, मानवीय व्यवस्था हमारे ही कर्मों से विनष्ट हो जायेगी। उसे कोई भी तकनीकी शक्ति पुनः जीवन्त नहीं कर सकेगी। आइये समय की आवश्यकता और अपनी सुख-समृद्धि की प्राप्ति हेतु नैतिक एवं मानव मूल्यों से युक्त समाज, देश और विश्व का निर्माण करें।

“हमारे युग की नैतिक समस्या के मूल में धन के प्रति आसक्ति। इसके मूल में है जीवन के नब्बे फीसदी कार्यों में धन के ही ‘मोटिव’ या अभिप्रेरणा को कारगर मानने की हमारी प्रवृत्ति। व्यक्ति की आर्थिक सुरक्षा को सभी गतिविधियों का केन्द्र मानकर चलने की विश्वव्यापी होड़, सभी रचनात्मक कार्यों की माप के लिए एक मात्र धन की व्यापक स्वीकृति और अंत में जमाखोरी की तथाकथित सहज प्रवृत्ति को आधार मानकर ही परिवार और समाज के सुखी भविष्य की तलाश— यही प्रवृत्तियां हमारे नैतिक संकट को अति गंभीर बनाती जाती हैं।”

# शिक्षकों का वृत्ति-धर्म

प्रो० अजित नारायण त्रिपाठी

शीर्षक में प्रयुक्त शब्द, 'वृत्ति-धर्म', सामान्य भाषा में प्रचलित शब्द नहीं है। अतः इसे परिभाषित करने की आवश्यकता है। वृत्ति शब्द का अर्थ है पेशा अथवा जीविकोपार्जन का साधन। आज के समाज में नाना प्रकार की वृत्तियाँ हैं। अधिकांश पारम्परिक वृत्तियाँ श्रम, कारीगरी या हुनर पर आधारित हैं। इनकी तुलना में ज्ञान पर आधारित विशेषज्ञ वृत्तियों को, जैसे चिकित्सकों, अधिवक्ताओं, अभियंताओं, शिक्षकों आदि की वृत्तियों को, अधिक आदर एवं महत्त्व दिया जाता है। इसके दो कारण हैं। पहला यह कि इन विशेषज्ञ वृत्तियों को अपनाने के लिए अधिक शैक्षणिक योग्यता की आवश्यकता होती है। इनके अपने व्यवस्थित और विशिष्ट ज्ञान-शास्त्र हैं, जिन्हें उच्च शिक्षा के द्वारा अर्जित करना होता है। साथ ही इन वृत्तियों से जुड़े व्यावहारिक कौशल भी सीखने होते हैं। अतः कुछ प्रबुद्धजन ही इन वृत्तियों को अपना पाते हैं। सामाजिक सम्मान का दूसरा कारण यह है कि ये उच्चतर वृत्तियाँ केवल जीविकोपार्जन का साधन ही नहीं हैं। इनके अपने सामाजिक आदर्श हैं, नैतिक मूल्य-मर्यादाएं हैं। इनका मुख्य उद्देश्य धनार्जन नहीं है, वरन् अपने विशिष्ट ज्ञान-कौशल द्वारा समाज की सेवा करना है। इस सेवा भाव से काम करना तथा अपनी वृत्ति के नैतिक दायित्वों का एवं उसकी मूल्य मर्यादाओं का निष्ठापूर्वक अनुपालन करना, सभी वृत्तिक सदस्यों का धर्म होता है। वृत्तिक आदर्शों के प्रति समर्पण के इस भाव को हम वृत्ति-धर्म की संज्ञा दे रहे हैं। कहना न होगा कि यहाँ हम धर्म शब्द का प्रयोग आस्था-विश्वास, ईश भक्ति, पूजा-पद्धति आदि के अर्थ में नहीं, वरन् नैतिक दायित्व बोध के अर्थ में कर रहे हैं। शिक्षकों

के वृत्ति-धर्म का मुख्य तात्पर्य है, शैक्षिक वृत्ति और शिक्षा व्यवस्था के नैतिक दायित्वों को जानना-समझना और उनका निष्ठापूर्वक अनुपालन करना। शिक्षा व्यवस्था के कई स्तर हैं। उसकी कुछ मूल्य-मर्यादाएं तो सभी स्तरों के लिए एक ही हैं, पर कुछ में अंतर है। यहाँ हम मुख्यतः विश्वविद्यालय स्तर की उच्च शिक्षा व्यवस्था और उससे जुड़े विद्वानों और शिक्षकों के नैतिक दायित्वों की चर्चा करेंगे। इन दायित्वों को चार वर्गों में रखकर समझा जा सकता है। ये हैं,

1. विद्यार्थियों के प्रति दायित्व
2. शैक्षिक संस्था के प्रति दायित्व
3. समाज के प्रति दायित्व
4. ज्ञान परम्परा और उसकी मूल्य-मर्यादाओं के प्रति दायित्व

## 1. विद्यार्थियों के प्रति दायित्व

शिक्षक का प्रथम दायित्व है विद्यार्थियों को सुशिक्षित करना। इस सुशिक्षा का पहला स्तर है पाठ्य-विषय का समुचित ज्ञान कराना, यानी उन्हें विषय-वस्तु के तथ्यों, संकल्पनाओं, परिभाषाओं, सिद्धान्तों आदि की सम्यक् जानकारी देना। पर केवल जानकारी दे देना ही पर्याप्त नहीं है। यह तो विद्यार्थी पुस्तकों से भी प्राप्त कर सकता है। तथ्यात्मक जानकारी से कहीं अधिक आवश्यक है उस विषय की 'समझदारी' विकसित करना। अर्थात् उस ज्ञान का क्या मर्म, क्या महत्त्व है, क्या सही उपयोग है, क्या उसकी तर्क शैली है, आदि को समझना। ऐसी समझदारी से व्यक्ति अपने विषय में प्रवीण होता है, पारंगत होता है। पर आज प्रायः हम जानकारी के स्तर से ऊपर नहीं उठ पाते। समझदारी विकसित करने में शिक्षक की रुचि कम होती है। और

विद्यार्थी की तो उससे भी कम। क्योंकि अच्छे नंबरों से परीक्षा पास कर लेने के लिए जानकारी ही पर्याप्त होती है।

शिक्षक का गुरुतर दायित्व है विद्यार्थी को अपने विषय का 'विद्वान' बना देना। ऐसी विद्वत्ता तब आती है जब विद्यार्थी में जानकारी और समझदारी से भी आगे बढ़कर समालोचनात्मक और विवेचनात्मक क्षमता विकसित होती है। इसके लिए आवश्यक है कि विद्यार्थी को स्वतंत्र अध्ययन, चिंतन, मनन के लिए प्रेरित किया जाय। उसके सामने चुनौतीपूर्ण प्रश्न रखे जायें, और उसे स्वतंत्र लेखन के लिए प्रोत्साहित किया जाय। उसके ज्ञानार्जन के साथ-साथ वह ज्ञान सृजन में भी सक्षम हो पाएगा। विद्यार्थी को इस स्तर तक ले आ देना जहाँ वह स्वप्रयास से ही ज्ञानार्जन और ज्ञानसृजन के मार्ग पर आगे बढ़ सके, यही सुशिक्षा का वास्तविक उद्देश्य है। विद्यार्थी के मन में विद्यार्जन के प्रति ऐसी ललक पैदा कर देना तभी संभव होगा जब स्वयं शिक्षक के मन में भी ज्ञान के प्रति वही उत्साह और निष्ठा हो। एक अच्छा शिक्षक जीवन पर्यन्त विद्यार्थी होता है। कहा भी गया है कि एक जलता हुआ दीपक ही दूसरे दीपक को प्रज्वलित कर सकता है। किसी एक विषय का भलीभांति ज्ञान प्रदान करके विद्यार्थी को उस विषय में पारंगत बना देना शिक्षा व्यवस्था और शिक्षक के दायित्व का एक स्तर है। पर इस प्रक्रिया द्वारा विद्यार्थी की बौद्धिक क्षमता का विकास करना उसका उच्चतर स्तर है। समय के साथ विषय-विशेष का ज्ञान तो बदलता रहता है। विज्ञान, प्रौद्योगिकी आदि के क्षेत्र में यह परिवर्तन अधिक गतिमान होता है। आज का सीखा हुआ ज्ञान कुछ ही वर्षों में अप्रासंगिक हो जाता है। पर बौद्धिक कौशल जीवन पर्यन्त हमारा साथ देता है। इसके सहारे हम किसी भी नए विषय का ज्ञान

अर्जित कर सकते हैं। केवल ज्ञान और विद्या के क्षेत्र में ही नहीं, विकसित बुद्धि वाले लोग जीवन के किसी भी क्षेत्र में सामने आने वाली समस्याओं का सही विश्लेषण कर सकते हैं, उनका समुचित समाधान ढूँढ सकते हैं, और भविष्य की चुनौतियों का सामना कर सकते हैं। ऐसे बुद्धिमान, सुयोग्य और सक्षम व्यक्तियों का निर्माण करना ही उच्च शिक्षा के गुणवत्ता की सच्ची कसौटी है। व्यक्ति निर्माण का यह दायित्व कक्षा में मात्र नोट्स लिखा देने से पूरा नहीं होता।

बौद्धिक विकास के साथ-साथ विद्यार्थियों का चरित्र निर्माण करना तथा उनकी सामाजिक, नैतिक चेतना का विकास करना विश्वविद्यालयों एवं शिक्षकों के दायित्वों का एक प्रमुख आयाम है। विश्वविद्यालयों से उच्च शिक्षाप्राप्त विज्ञ जनों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे अपने ज्ञान और कौशल द्वारा समाज का हित करेंगे, उसके उत्थान में सहायक होंगे। पर सामाजिक-नैतिक चेतना के अभाव में वे केवल अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्धि के प्रति ही सचेष्ट रहते हैं। ऐसे स्वार्थ प्रेरित और स्वकेन्द्रित लोग देश को, समाज को, कुछ दे नहीं पाते। उल्टे अपनी बौद्धिक क्षमता और चतुराई से समाज का शोषण ही अधिक करते हैं। अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए वे समाज का अहित करने में भी कोई संकोच नहीं करते। देश में बढ़ता भ्रष्टाचार एवं नाना प्रकार के घोटाले इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। उच्च शिक्षा प्राप्त, पर नैतिक-मानवीय संवेदनाओं से शून्य, ऐसे कुशल आधुनिक जनों को एक अमेरिकी विद्वान ने Skilled barbarians कहा है। यह शब्द कठोर लग सकता है पर यथार्थ से बहुत दूर भी नहीं है। नैतिक मूल्यों को समाविष्ट किए बिना केवल बौद्धिक शिक्षा से व्यक्ति और समाज का हित नहीं हो सकता। इस बात को



काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्थापक महामना पंडित मदन मोहन मालवीय जी ने भलीभांति समझ लिया था। आज से सौ वर्ष पूर्व प्रकाशित, विश्वविद्यालय की परिचायिका में उन्होंने लिखा था :

“Formation of character is even more important for the well being of the individual and of the community. Mere industrial advancement cannot ensure happiness and prosperity to any people. Therefore moral progress is more necessary than material progress. Hence it is that the proposed university has placed formation of character in youth as one of its principal objects. It will seek not merely to turn out men as engineers, scientists, doctors, merchants, lawyers, but also as men of high character, probity and honour. It will be a nursery of good citizens instead of only a mint for hall-marking a certain standard of knowledge.”

विश्वविद्यालय को सुयोग्य, सच्चरित्र और मूल्यनिष्ठ नागरिकों की पौधशाला बनाने के इस स्वप्न को कैसे साकार किया जाय, यह आज हमारे लिए सबसे बड़ी चुनौती है। इस चुनौती को स्वीकार करके उसके अनुरूप शिक्षा व्यवस्था में परिवर्तन करने का प्रयास करना आज विश्वविद्यालयों और उसके शिक्षकों का परम दायित्व है।

## २. संस्था के प्रति दायित्व

शिक्षक किसी विश्वविद्यालय या अन्य शैक्षिक संस्था का वेतनभोगी कर्मचारी होता है। संस्था उसे आजीविका देती है। साथ ही एक उच्च स्तर का सामाजिक दर्जा भी देती है। विश्वविद्यालय का शिक्षक होने के कारण ही उसे सामाजिक प्रतिष्ठा

मिलती है। अतः यह अपेक्षित है कि उसके मन में अपनी संस्था के प्रति कृतज्ञता का भाव हो। वह निष्ठापूर्वक संस्था की सेवा करेगा, उसके उद्देश्यों को आगे बढ़ायेगा और संस्था के उत्थान में अपना पूर्ण योगदान करेगा। इस सेवाभाव और निष्ठाभाव से प्रेरित शिक्षक संस्था के हित को अपने हित से ऊपर रखेगा। कोई भी ऐसा काम नहीं करेगा जिससे संस्था की गरिमा को आंच आती हो। नैतिकता का यह आग्रह है कि हम संस्था से जितना कुछ पाते हैं, उससे अधिक ही संस्था को दें, उससे कम नहीं। पर यह एक विडंबना है कि शिक्षकों के एक वर्ग का आचरण इस भावना के विपरीत होता है। ऐसा लगता है जैसे उनका आदर्श वाक्य हो, “संस्था से जितना अधिक ले सकते हो, ले लो, पर उसे दो केवल उतना ही, जिससे नौकरी बची रहे।”

संस्था के प्रति दायित्वों का दूसरा महत्वपूर्ण बिन्दु है, अनुशासन। संस्था द्वारा निर्दिष्ट और अपेक्षित सभी कामों को पूरी लगन और ईमानदारी से करना शिक्षक का नैतिक दायित्व है। इन कामों में शैक्षणिक और शिक्षणेतर दोनों तरह के काम शामिल होते हैं। प्रत्येक संस्था के अपने नियम-कानून, काम करने के तौर-तरीके होते हैं। संस्था आशा करती है कि उसके कर्मचारियों का आचरण इनके अनुरूप होगा। इसी प्रकार संस्था के कर्मचारियों, अधिकारियों और शिक्षकों में छोटे-बड़े का एक पदानुक्रम होता है। इसकी मर्यादाओं का अनुपालन करना भी शिक्षकों का दायित्व होता है। यह उनके हित में भी है। क्योंकि आज जो कनिष्ठ है, कल वही वरिष्ठ होगा। और जो अपने से वरिष्ठ जनों को सम्मान देता है, वही आगे चलकर अपने से कनिष्ठ लोगों का सम्मान पाता है।

विश्वविद्यालयों तथा उच्च शिक्षा के अन्य

उत्कृष्ट संस्थानों की कार्य संस्कृति सरकारी विभागों अथवा व्यापारिक संस्थानों की कार्य-संस्कृति से भिन्न होती है। शिक्षण, शोध एवं अन्य अकादमिक कार्यों में लगे विद्वानों एवं शिक्षकों के बीच गैर-बराबरी का भाव कम होता है। इसमें अपने से कनिष्ठ सहयोगियों पर 'बॉस' की भांति हुक्म चलाने और रौब जमाने की प्रवृत्ति के लिए कोई स्थान नहीं होना चाहिए। उत्कृष्ट अकादमिक कार्य करने वाले विभागों में एक-दूसरे के साथ मिलजुल कर, परस्पर आदरभाव से, आम सहमति बनाकर काम करने का वातावरण बने रहना चाहिए। ऐसे वातावरण के सृजन में सहायक बनना सभी शिक्षकों का नैतिक दायित्व है। इसमें वरिष्ठ शिक्षकों का दायित्व अधिक होता है। उनसे योग्यता और मूल्यनिष्ठा के साथ-साथ नेतृत्व क्षमता की भी अपेक्षा की जाती है। टीम भावना को प्रोत्साहित करते हुए प्रेरणादायक उत्कृष्ट अकादमिक कार्य-संस्कृति विकसित करने के लिए कुशल नेतृत्व प्रदान करना, विभागाध्यक्ष, संकाय-प्रमुख एवं कुलपति पद पर आसीन वरिष्ठजनों का सर्वाधिक महत्वपूर्ण दायित्व है। इसी से कोई संस्था आगे बढ़ती है, उच्च कोटि के विद्वानों और शोधकर्ताओं को अपनी ओर आकृष्ट करती है, और इन सभी के सम्मिलित प्रयासों से संस्था उत्कृष्टता की ओर उन्मुख होती है।

### 3. समाज के प्रति दायित्व

विश्वविद्यालयीय शिक्षा-व्यवस्था एक सामाजिक संरचना है। इसे समाज ने अपनी कुछ महत्वपूर्ण आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए स्थापित किया है। इसमें प्रमुख है, समाजतंत्र को सुचारु रूप से चलाते रहने के लिए विभिन्न प्रकार के ज्ञान-कौशल से युक्त व्यक्तियों का सृजन करना, ऐसे लोगों को तैयार करना जो सामाजिक-आर्थिक विकास को आगे बढ़ा सकें, उसे अधिक

गतिमान बना सकें, और इसमें आने वाली नयी चुनौतियों का सफलता पूर्वक सामना कर सकें। इसके लिए आवश्यक है कि विश्वविद्यालय से निकले उच्च शिक्षा प्राप्त लोगों की बौद्धिक क्षमता एवं कार्यकुशलता के साथ-साथ सामाजिक-चेतना भी विकसित हो, वे समाज को अपना समझें, अपने सामाजिक दायित्वों को जानें और स्वीकार करें, और जिनके मन में अपने ज्ञान-कौशल से एक बेहतर समाज बनाने का उत्साह हो। ऐसे उच्चकोटि के प्रबुद्ध, सक्षम और संवेदनशील 'मानव संसाधन' का विकास करना विश्वविद्यालय और उसके शिक्षकों का प्रमुख सामाजिक दायित्व है।

सामाजिक उपयोगिता की दृष्टि से यह आवश्यक है कि विश्वविद्यालय में पठन-पाठन के विषय और शोध कार्य हमारे अपने समाज की आवश्यकताओं और प्राथमिकताओं को ध्यान में रखकर तय किए जायें। वैसे तो ज्ञान-विज्ञान का एक बड़ा भाग सार्वभौमिक होता है पर उसमें बहुत कुछ ऐसा भी होता है जो हर समाज अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप विकसित करता है। नयी पीढ़ी को देने के लिए इस विशाल-ज्ञान भण्डार से क्या चयनित किया जाता है और उन्हें किस रूप में प्रस्तुत किया जाता है यह भी देश-काल में मान्य सामाजिक-सांस्कृतिक दर्शन से प्रभावित होता है। पश्चिमी विश्वविद्यालयों का अध्यापन करने में हम उनके ज्ञानशास्त्र की सीमाओं को और उनमें छिपे पूर्वाग्रहों को प्रायः नहीं पहचान पाते। हम मान लेते हैं कि उनके शैक्षिक कार्यक्रम हमारे लिए भी उपादेय हैं। इस औपनिवेशिक मानसिकता के कारण हम अपने समाज से अन्याय कर जाते हैं। इस कारण कई ऐसे महत्वपूर्ण पक्ष उपेक्षित हो जाते हैं जिन पर अकादमिक अध्ययन, शोध आदि अपने देश के लिए, विशेषतः आर्थिक रूप से कमजोर वर्गों

के लिए बड़ा लाभकारी होगा। उदाहरण के लिए, हमारे कारीगरों की पारम्परिक तकनीकी को कैसे आधुनिक विज्ञान के द्वारा अधिक विकसित किया जाय, उसकी उत्पादकता और गुणवत्ता बढ़ायी जाय, उसे आधुनिक मांग के अनुरूप परिवर्तित किया जाय, ऐसा ज्ञान हमारे लिए बहुत उपयोगी होगा। पर ऐसे विषयों पर अपने विश्वविद्यालयों में कोई उल्लेखनीय काम नहीं हो रहा है। यह दिखाता है कि हमारे विश्वविद्यालय और उनके शिक्षक वर्ग अपने सामाजिक दायित्वों के प्रति कम सजग हैं।

विश्वविद्यालय के प्रबुद्ध विद्वानों एवं शिक्षकों का एक अन्य महत्वपूर्ण सामाजिक दायित्व है, सामाजिक गतिविधियों की निष्पक्ष, नीतिसम्मत और विवेकपूर्ण समालोचना करना। अपने ज्ञान और तर्कशक्ति के द्वारा वे इन गतिविधियों के कारकों को, उनके छिपे हुए पहलुओं को और उनके दूरगामी परिणामों को देख-समझ सकते हैं और उन्हें उजागर कर सकते हैं। आज के जटिल समाज में प्रायः आर्थिक और राजनैतिक शक्तियाँ अपने निहितार्थों को पूरा करने के लिए लोक-लुभावने नारों और कार्यक्रमों से सामान्य जनता को भ्रमित करने का प्रयास करती रहती हैं। इनसे जनता को आगाह करना, और लोकहित के सजग प्रहरी के रूप में काम करना भी प्रबुद्धजन का दायित्व है। लोकतंत्र की सफलता के लिए बुद्धिजीवियों द्वारा सामाजिक समालोचना का यह दायित्व निभाना नितांत आवश्यक है। इसके लिए आवश्यक है कि विद्वानों और शिक्षकों की योग्यता एवं निष्पक्षता में सामान्यजन का विश्वास हो। पर इस विश्वासनीयता पर आज कई प्रश्न चिन्ह लगे हैं। इन्हें हमें सप्रयास दूर करना होगा।

अपने सामाजिक दायित्वों को निभाने के लिए शिक्षकों को समाज से जुड़े रहना होगा।

केवल अपने ज्ञान-विशेष की सीमाओं में बंधकर, ivory tower में रहकर वे समाज हित के लिए कार्य नहीं कर पाएंगे। उन्हें सामाजिक गतिविधियों, हलचलों, परिवर्तन की प्रक्रियाओं में सक्रिय रूप से रुचि लेनी होगी, उन पर चिंतन-मनन, विचार-विमर्श करना होगा और इस मंथन से उपजे विचारों को समाज के सामने प्रभावी तरीके से प्रस्तुत करना होगा। एक अच्छे समाज में परिवर्तन की दिशाओं और कार्यक्रमों को तय करने में सामान्य जन और विद्वज्जनों के ऐसे सामुदायिक 'जन संवाद' की महत्वपूर्ण भूमिका होनी चाहिए।

#### ४. ज्ञान परम्परा एवं उसके मूल्य-मर्यादाओं के प्रति दायित्व

विश्वविद्यालयों के विद्वानों एवं शिक्षकों के दायित्वों का क्षेत्र विद्यार्थी, संस्था, देश एवं समाज तक ही सीमित नहीं है। इनसे भी आगे और इनसे भी अधिक विस्तृत एक क्षेत्र है जिसके प्रति उनकी निष्ठा सर्वोपरि होनी चाहिए। वह क्षेत्र है विद्या और ज्ञान की निरंतर प्रवहमान परम्परा का। आज के विद्वज्जन इसी परम्परा की आधुनिक कड़ी हैं। वे ही इस ज्ञान प्रवाह को भूत से भविष्य तक जोड़ते हैं। मानव सभ्यता के विकास क्रम में सृजित ज्ञान के विशाल ज्ञानकोष के संरक्षक और संवाहक विश्वविद्यालय के विद्वान शिक्षक ही हैं। इस कोष को अक्षुण्ण बनाये रखना, इसकी अभिवृद्धि करना, उसे नयी धाराओं, उपधाराओं में प्रवाहित करना और उसकी गरिमा को बनाये रखना शिक्षकों का परम धर्म है। अपनी वृत्ति को इस परम्परा के प्रति समर्पण के पवित्र भाव से देखने में, और उसे केवल आजीविकोपार्जन का माध्यम के रूप में देखने में जमीन-आसमान का अंतर है। ज्ञान-परम्परा के अपने विशिष्ट और उत्कृष्ट मूल्य हैं। इन मूल्यों के

अनुरूप आचरण करना सभी विद्वानों, शिक्षकों, शोधकर्ताओं का दायित्व है।

ज्ञान परम्परा का पहला मूल्य है बौद्धिक ईमानदारी। इस मूल्य के कई भाव हैं। इनमें एक है, किसी भी ज्ञान, विचार अथवा सिद्धान्त की प्रामाणिकता को सुनिश्चित करके, उसे भली-भांति सत्यापित करके ही उसका प्रतिपादन करना। इसके लिए आवश्यक है कि विद्वज्जन तटस्थ, तथ्याधारित और वस्तुनिष्ठ व्याख्या और सत्यानुसंधान करें। तथ्यों से छेड़छाड़ करना, अपने अनुकूल तथ्यों को चुनना और अन्य की जानबूझ कर अनदेखी कर देना, बौद्धिक बेईमानी है। इसी प्रकार कई विद्वान सभी प्रश्नों, घटनाओं एवं समस्याओं की व्याख्या किसी एक विचारधारा या आइडियोलॉजी के आधार पर ही करते दीखते हैं। ऐसा लगता है कि वे एक स्वतंत्र चिंतक न होकर किसी विचारधारा के प्रचारक हों। सांस्कृतिक और सामाजिक विषयों के विद्वानों में प्रायः ऐसे पूर्वाग्रह देखने को मिलते हैं। इस प्रकार का वैचारिक-बौद्धिक खेमावाद ज्ञान परम्परा के मूल्यों के विपरीत है।

बौद्धिक ईमानदारी का दूसरा भाव है, अन्य विद्वानों और शोधकर्ताओं को उनके योगदान का उचित श्रेय देना। ऐसा किए बगैर दूसरे के विचारों को अपनी प्रस्तुति या लेखन में शामिल कर लेना बौद्धिक चोरी है। संयुक्त प्रयास में किसका कितना योगदान है, यह भी स्पष्ट होना चाहिए। शोध पत्रों के प्रकाशन में कुछ लोग विना कुछ किए हुए भी अपना नाम छपवा लेते हैं। कई शोध निर्देशक भी इस प्रकार का दुष्कार्य करते हुए देखे जाते हैं। यह सर्वथा अनुचित है। इसी प्रकार किसी विषय का ज्ञान न रहते हुए भी कुछ लोग यह दिखाने का प्रयास करते हैं कि वे उसके ज्ञाता हैं। या जितना जानते हैं उससे कहीं अधिक जताने का प्रयास

करते हैं। विद्यार्थियों द्वारा प्रश्न पूछे जाने पर कई शिक्षक यह कहने में संकोच करते हैं कि इसका उत्तर मुझे नहीं मालूम है। एक अच्छे विद्वान तथा शिक्षक को इन दुर्गुणों से ऊपर उठने का प्रयास करना चाहिए।

बौद्धिक ईमानदारी से ही मिलता-जुलता ज्ञान परम्परा का एक दूसरा मूल्य है, बौद्धिक और वैचारिक खुलापन। एक ही विषय पर दृष्टि-भेद के कारण अलग-अलग विद्वानों के मत भिन्न होते हैं। अपने विचारों से भिन्न विचारों को भी उचित आदर और महत्त्व देना एक अच्छे विद्वान का लक्षण है। अपने किसी विचार या बोध में त्रुटि सिद्ध हो जाने पर, या उससे बेहतर विचार सामने आ जाने पर, अपनी गलती या कमी को सहर्ष और शालीनतापूर्वक स्वीकार कर लेना, वैचारिक खुलापन है। विद्या और ज्ञान निरंतर गतिमान धारा की भांति होते हैं। पुराने और स्थापित सिद्धान्त, विचार, मत, शास्त्र, संशोधित होते रहते हैं, परिवर्तित होते रहते हैं। कोई भी ज्ञान केवल दीर्घ काल से मान्यता प्राप्त हो जाने के कारण ही सत्य नहीं हो जाता। इस सत्य को केवल आज के वैज्ञानिक दृष्टिकोण ने ही नहीं मान्यता दी है, आज से प्रायः दो हजार वर्ष पहले महाकवि कालिदास ने कहा था, 'पुराणमित्येव न साधु सर्वम्'। विद्वानों और शिक्षकों में ऐसा बौद्धिक खुलापन होना चाहिए कि वे पुराने ज्ञान से, विचारों से अनावश्यक रूप से न चिपक कर नए ज्ञान का सहर्ष स्वागत कर सकें।

विद्या से परिष्कृत व्यक्तित्व का एक प्रमुख गुण है विनम्रता। संस्कृत का प्रसिद्ध नीति-वाक्य है; 'विद्या ददाति विनयम्'।

अपने ज्ञान का अहंकार विद्वानों का सबसे बड़ा दुर्गुण और शत्रु है। ऐसे अहंवादी जन आत्मप्रशंसा और आत्मतुष्टि में ही निमग्न रह जाते हैं। अपने को



सर्वज्ञ मानकर दूसरों को अपने से तुच्छ समझने लगते हैं। पर वास्तविक विद्या प्रेमी वह है जो विद्यार्थी भाव से सदैव और सबसे सीखता रहता है और अपने ज्ञान-भंडार की अभिवृद्धि करता रहता है। सभी बड़े विद्वानों के व्यक्तित्व में विनम्रता का भाव परिलक्षित होता है। इस युग के महानतम वैज्ञानिक न्यूटन ने अपने बारे में लिखा है,

“मैं तो एक छोटे बालक की भांति समुद्र तट पर पत्थर के कुछ एक सुन्दर टुकड़ों और सीपों को बटोरने में ही निमग्न रह गया, जबकि ज्ञान का अथाह सागर मेरे सामने अछूता लहरा रहा था।”

इसी भाव से भर्तृहरि ने दो हजार वर्ष पहले कहा था—

यदा किंजिज्ज्ञोहं द्विप इव मदांधःसमभवं  
तदा सर्वज्ञोऽस्मीत्यभवदव लिप्तं मम मनः।  
यदा किंचित्किंचिद् बुधजन सकाशादवगतं  
तदा मूर्खोऽस्मीति ज्वर इव मदो मे व्यपगतः।।

(जब मैं थोड़ा जानता था, तब मैं मदोन्मत्त हाथी की तरह घमण्ड में अंधा होकर अपने को सर्वज्ञ समझता था। लेकिन जब मैंने विद्वानों की संगति में कुछ जाना और सीखा, तब मुझे मालूम हो गया कि मैं तो निरा मूर्ख हूँ, उस समय मेरा मद ज्वर की तरह उतर गया।)

#### उपसंहार

हमारी विश्वविद्यालयीय शिक्षा व्यवस्था में गुणवत्ता की जो कमी दिखायी देती है उसका एक प्रमुख कारण है, शिक्षक वर्ग में अपने वृत्ति-धर्म के प्रति निष्ठा भाव की कमी। वृत्ति के मूल्य विषयक प्रश्नों पर चर्चा और चिंतन के लिए हमारी व्यवस्था में न तो कोई स्थान है और नहीं ही कोई आग्रह। शिक्षक वर्ग भी अपने अधिकारों के लिए, जल्दी से जल्दी प्रोन्नति और कैरियर में आगे बढ़ जाने के लिए, तथा कुछ बेहतर सुविधाएं पा लेने के लिए ही

अधिक सचेष्ट दीखते हैं। अतः यह आवश्यक है कि उनमें अपनी वृत्ति के आदर्शों और उसके दायित्वों के प्रति निष्ठाभाव को सप्रयास जागृत किया जाय और इन दायित्वों के निर्वहन को सुनिश्चित करने के लिए प्रभावी व्यवस्थागत उपाय किए जायें। इस अत्यावश्यक कार्य के लिए सुविचारित कार्यक्रम बनाना तथा उसे सफलतापूर्वक कार्यान्वित करना शिक्षाविदों और शैक्षिक नीति निर्धारकों के लिए एक बड़ी चुनौती है। आशा करनी चाहिए कि वे इस चुनौती को स्वीकार करेंगे। क्योंकि शिक्षा व्यवस्था की गुणवत्ता को और उससे निकले हुए व्यक्तियों के समन्वित मानवीय व्यक्तित्व को, बेहतर बनाए बिना हम देश को उत्कृष्टता की ओर नहीं ले जा सकते, एक सभ्य, मानवोचित समाज नहीं बना सकते। •

जिसे नैतिकता के प्रति  
आस्था तो हो, पर उसके  
लिए लड़ पड़ने की  
हिम्मत न हो, वह भले  
ही कई डिग्रियाँ ले चुका  
हो, सुशिक्षित नहीं कहा  
जा सकता।



# शिक्षा पर किये गए कुछ प्रयोग

डॉ० अमित कुमार सिंह

वर्तमान शिक्षा-प्रणाली मुख्य रूप से महत्वाकांक्षा सिखाती है। दूसरों की तुलना में हम कैसे बेहतर हो सकें? कैसे जीविकोपार्जन की व्यवस्था हो? ज्यादा से ज्यादा इसका केन्द्र बिन्दु यहीं तक सीमित होता है। परिवार, समाज और कुछ अर्थों में धर्म की शिक्षा का सार भी यही होता है—सापेक्षिक आत्मविश्वास। सापेक्षिक आत्मविश्वास का सीधा आशय है दूसरों की तुलना में स्वयं का मूल्यांकन। स्वयं को बेहतर बनाने और मानने का आत्मविश्वास वर्तमान शिक्षा व्यवस्था पैदा नहीं करती है। चूँकि शिक्षा का सम्बन्ध केवल जीवन जीने के साधनों को अर्जित करने तक सीमित नहीं हो सकता है और न ही शिक्षकों का उद्देश्य एक ऐसा तोतारटन्त विद्यार्थी पैदा करना है जो उधार की सूचनाओं से एक असंवेदनशील और समाजविमुख आत्मकेन्द्रित व्यक्ति के रूप में निर्मित हो।

शिक्षा कैसी हो? इस संदर्भ में एक बड़ा विचारक वर्ग और विचारों का साहित्य मिलता है, जो शिक्षा के आदर्शों से संबंधित नैतिक परन्तु आरोपित उपदेशों तक केन्द्रित रहता है। इस नैतिकता के धुँआधार लफ्फाजी से कोई सार्थक हल अब तक नहीं निकल सका है, ऐसा अनुभव में दिखाई देता है। ऐसी परिस्थिति में महत्त्व इस बात का है कि व्यावहारिक चिन्तन का कैसे और कितना ज्यादा प्रयोग विद्यार्थियों के साथ किया जाता है।

इसी आधार पर छात्रों/छात्राओं के साथ एक प्रयोग आरम्भ किया गया। इस प्रयोग को आरम्भ करने के साथ एक स्वाभाविक चिन्ता यह थी कि क्या स्नातक के छात्र/छात्राओं के साथ जीवन संबंधी गहन प्रयोग सफल हो सकेगा? इस संबंध में

शनिवार को एक साप्ताहिक संवाद का आयोजन आरम्भ हुआ। इसमें शिक्षक व छात्र/छात्राओं के साथ इस मान्यता के साथ संवाद आयोजित हुआ कि हमें कुछ मानना नहीं है बल्कि जानना है। जानने के पीछे यह जरूरी हो जाता है कि हम अपने व्यावहारिक जीवन के प्रयोग की कसौटी में देख सकें कि कोई भी बात कितनी सार्थक है?

शुरुआती प्रयोग में सबसे पहला प्रश्न यही रखा गया कि मानव जीवन की सबसे बड़ी समस्या क्या है? समस्या के तौर पर इसमें मुख्य रूप से जनसंख्या, बेरोजगारी, आतंकवाद, भ्रष्टाचार, महिला हिंसा, उपभोक्तावाद आदि को गिनाया गया। संवाद के माध्यम से समस्या की तह में जाने का प्रयास किया गया। जैसे — आतंकवाद। आतंकवाद क्या है? आतंकवाद क्यों पैदा होता है? क्या आतंक के माध्यम से अपनी बातें मनवाई जा सकती हैं? क्या विश्व-इतिहास में ऐसे उदाहरण मिलते हैं, जहाँ विना किसी हिंसा के क्रांति हुई हो? क्या आतंक की सहायता से शान्ति को प्राप्त किया जा सकता है? क्या कोई समझदार व्यक्ति अपनी मान्यता को सही और दूसरों की मान्यता को गलत मान सकता है? क्या दूसरों की मान्यता को मौत के नौद में सुलाकर ही समाधान ढूँढा जा सकता है? अंत में सभी छात्र/छात्रायें इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि आतंकवाद की मूल समस्या समझ की कमी का प्रतिफल है। इसी दृष्टि से प्रत्येक समस्या का गहराई से विश्लेषण किया गया। प्रत्येक समस्या चाहे वह भ्रष्टाचार हो या बेरोजगारी या फिर जनसंख्या, सभी इसी निष्कर्ष पर पहुँचे कि समस्या की मूल जड़ समझदारी की कमी है; चाहे यह व्यक्ति से संबंधित हो या

फिर व्यवस्था से। प्रश्न यह भी उठा कि समझ क्या है और इसे कैसे जाना जाए? इस उत्तर से सभी संतुष्ट हुए कि सहज स्वीकृति ही समझ का प्रमाण है। प्रत्येक व्यक्ति सुख, शान्ति, समृद्धि और आनन्द में जीना चाहता है। व्यक्ति की यह मौलिक चाहत है। कोई भी देश हो, धर्म हो, समाज हो प्रत्येक व्यक्ति पर यह बात लागू होती है। फिर ये समस्याएँ क्यों खड़ी हो जाती हैं? इसी तरह प्रत्येक समस्या की एक तार्किक विवेचना की गई। इस दौरान छात्र/छात्राओं द्वारा बहुत ही गंभीर प्रश्न मंच पर रखे गये। एक लड़की ने यह प्रश्न रखा कि समाज में आखिरकार महिलाओं के साथ भेद-भाव क्यों किया जाता है? मुसलमान लड़कों द्वारा भी महत्वपूर्ण प्रश्न रखे गये, मुसलमान-मुसलमानों से इतनी नफरत क्यों की जाती है? मुसलमानों में शिक्षा इतनी कम क्यों है? छात्राओं ने भी यह प्रश्न किया कि हम पर मुसलमान छात्रों से मेलजोल रखने पर शक किया जाता है। एक अनुसूचित जाति के छात्र ने यह प्रश्न किया कि मुझे लोगों ने बस से आखिरकार क्यों उतार दिया? संवाद-शैली में बड़े सहज उत्तर सामने आये। सर्वसहमति दिखाई पड़ी कि ये मूलतः मान्यताओं के प्रश्न हैं। सभी लोग किसी भी विचार में एक खास धारणा या पूर्वाग्रह से ग्रसित रहते हैं। कभी-कभी इस धारणा को समाज में एक प्रबुद्ध वर्ग द्वारा स्थापित किया जाता है, जिनके हाथों में शक्ति होती है। यह राजनीतिक – सामाजिक वर्ग भी हो सकता है और आज का मीडिया भी। इस दौरान कई मान्यताओं की जाँच की गई। जैसे :-

- १) सुविधा ही सुख नहीं है?
- २) क्या बेहतर संबंध परस्परता पर आधारित नहीं हैं?
- ३) एक धर्म विशेष के लोग सहिष्णु होते हैं और दूसरे धर्म के लोग कट्टर?

- ४) आरक्षण एक राजनीतिक हथकण्डा है?
- ५) मानसिक श्रम बेहतर है और शारीरिक श्रम तुच्छ?
- ६) सरकारी नौकरी ही अच्छी है?
- ७) व्यवस्था के संकट के लिए केवल जनता जिम्मेदार है?
- ८) अमेरिका व पश्चिम के प्रति आकर्षण हमारी कुण्ठा का परिणाम है?

छात्र/छात्राओं को यह बात छू गई कि पहले हम किसी भी तथ्य को जानें (अर्थात् स्वयं ही परख कर देखें) तब मानें। अभी हमारी शिक्षा-व्यवस्था का सारा जोर मानने पर है। बचपन से ही बच्चा रटकर शिक्षा प्राप्त करता है। यही प्रक्रिया समूचे जीवन भर शिक्षा-प्राप्ति तक चलती रहती है। कहीं भी विचार (मौलिक) को कोई महत्त्व नहीं दिया जाता है। ऐसे में हम सहज ही इस निष्कर्ष तक पहुँच सकते हैं कि ज्ञान व सूचनाओं के अन्तर को भली-भाँति समझकर विचारशीलता को प्रमुखता दी जाए। वर्तमान शिक्षा-व्यवस्था स्वयं एक विशेष प्रकार की धारणाओं से ग्रस्त है और वह विचारशीलता की हत्या करती दिखाई देती है। शिक्षा-व्यवस्था में हम ऐसी शैली विकसित कर सकते हैं कि यह बने-बनाए उत्तर प्रस्तुत न करे, बल्कि उत्तर ढूँढने की कला का विकास करे।

शिक्षण-व्यवस्था में दूसरा महत्वपूर्ण बिन्दु है : कक्षा का मानसिक माहौल। शिक्षक के व्यवहार व मानसिकता से कक्षा में एक भावनात्मक माहौल निर्मित होता है। नोएडा के एक प्रतिष्ठित इन्फोर्मेशन टेक्नोलोजी संस्था में कार्यरत मेरे मित्र ने कहा कि हम लोग छात्रों से एक ग्राहक के रूप में बरताव करते हैं जो महँगी फीस देकर यहाँ दाखिला लेते हैं। यहाँ सुनने में थोड़ा अशोभनीय व अप्रिय लगता है लेकिन सामान्यतः शिक्षकों का व्यवहार भी छात्रों

के साथ ऐसा ही दिखाई देता है। छात्रों के साथ शिक्षक का सम्बन्ध सामान्यतः भावनात्मक न हो कर विशुद्ध बौद्धिक दिखाई देता है। बौद्धिकता मूलतः विरोधाभासी, दृढ़ व तर्क आधारित होती है लेकिन भावनात्मकता मूलतः सहज स्वीकृत होती है। छात्रों के साथ कक्षा में एक सहज माहौल निर्मित करने में मुझे सफलता मिली। एकतरफा सम्भाषण से अतिरिक्त यहाँ एक माहौल निर्मित किया गया कि सभी लोगों की सहज सहभागिता हो सके। विना किसी प्रत्यक्ष भागीदारी के छात्र को कभी भी अपना महत्त्व समझ में नहीं आ पाता है। एक लोकतांत्रिक माहौल से लोगों में यह विश्वास निर्मित हो पाता है कि हम भी सहज रूप से सार्थक निष्कर्ष तक पहुँच सकते हैं। इस लोकतांत्रिक मूल्यों की शिक्षा के परिणामस्वरूप कक्षा में एक प्रश्न आया कि इस्लाम व इसाई धर्म का इतिहास क्या है? एक हिन्दू छात्रा के इस प्रश्न से बड़ी सकारात्मक चर्चा हुई। सभी लोगों को एक दूसरे के धर्म को समझने में सफलता मिली। धर्मनिरपेक्ष भारत में सभी धर्मों की बुनियादी जानकारी देना शिक्षा का एक प्रमुख अंग होना चाहिए। धार्मिक सौहार्द व सहिष्णुता बढ़ाने में ऐसी शिक्षा का जनमानस पर क्रांतिकारी प्रभाव पड़ने की संभावना है। इस लोकतांत्रिक माहौल का मैंने दूसरा सकारात्मक परिणाम यह देखा कि छात्र व छात्राओं के मध्य सहज सम्बन्ध स्थापित होने लगा। कक्षा में छात्रों के मध्य संबंधों में जितनी सरलता व सुगमता दिखाई देने लगी, उतनी ही कक्षा के माहौल में ज्यादा गहराई दिखाई देने लगी। निश्चित ही भारतीय समाज में नारी-पुरुष संबंधों में तो असहज कुण्ठा, आक्रामकता, पूर्वाग्रह व सामंजस्य की कमी दिखाई देती है। उसे शिक्षा प्रणाली के द्वारा सहज ही दूर किया जा सकता है। एक सहज व स्वस्थ माहौल निर्मित किया जा सकता है, जिसमें

लड़के-लड़कियों के मध्य विश्वास का सम्बन्ध निर्मित हो। मैंने विश्वविद्यालय में कक्षाओं में लड़के-लड़कियों को अलग-अलग बेंचों पर बैठे देखा है। अपनी कक्षा में लड़के-लड़कियों को साथ बैठे देख कर सुखद अनुभूति होती है कि छोटे स्तर पर ही सही लड़के-लड़कियों के मध्य मानसिक दीवार ढह रही है। कक्षा में छात्र/छात्राओं की प्रत्यक्ष भागीदारी का एक सकारात्मक परिणाम यह निकला कि उन्होंने कक्षा की व्यवस्था में सहयोग देना आरम्भ किया। मसलन-कक्षा में सफाई, उचित रखरखाव, अनुशासन, चौक की समुचित व्यवस्था। कक्षा में छात्र-छात्राओं के साथ यह प्रयास किया गया कि उनमें रचनात्मक वृद्धि हो। प्रतिभा व मेधा को मापने का एक समय केवल IQ (इंटेलिजेंट कोशेन्ट) का ही प्रयोग होता था, लेकिन धीरे-धीरे यह मापदण्ड असफल होने लगा। ऐसा महसूस किया जाने लगा कि व्यक्ति का केवल प्रतिभाशाली होना महत्त्वपूर्ण नहीं है। प्रतिभा के साथ-साथ यह भी महसूस किया गया कि व्यक्ति स्वयं के साथ-साथ अपने पास-पड़ोस के साथ और अपने समाज के प्रति क्या सहयोग व सामंजस्य स्थापित कर पाता है? यह भी एक महत्त्वपूर्ण मुद्दा है। फलतः EQ (इमोशनल कोशेन्ट) की अवधारणा का प्रतिपादन किया गया। इस EQ को बढ़ाने के लिए आज की शिक्षा-व्यवस्था में कोई मौलिक प्रयोग नहीं हो रहा है। मैंने कक्षा में जब रचनात्मकता पर जोर दिया तो छात्र/छात्राओं में न केवल एक उमंग व तरंग दिखाई पड़ी बल्कि एक सहृदयता व संवेदनशीलता का भी एहसास हुआ। किसी ने गीत गाए, किसी ने लेख लिखा, किसी ने कविता लिखी, किसी ने गजल गाए और किसी ने पेंटिंग बनायी। ज्यादातर छात्र/छात्राओं ने यह स्वीकार किया कि उनके भीतर भी एक कलाकार छुपा है, जिसका हम उचित

पालन-पोषण नहीं करते हैं। कला या रचनात्मकता का सीधा सम्बन्ध मानवीय स्पर्श व मानवीय संवेदना से होता है। फलतः छात्र/छात्राओं के बौद्धिकता का एकतरफा विकास कर उन्हें कुशल मशीन बनाए जाने से कहीं बेहतर यह होगा कि हम उन्हें एक संवेदनशील व सहृदय व्यक्ति बनाने का प्रयास करें।

छात्र/छात्राओं के साथ प्रयोग का अंतिम लेकिन महत्वपूर्ण चरण रहा : ध्यान की शिक्षा। हमारी शिक्षा-व्यवस्था में छात्र/छात्राओं को कौन से विषय की शिक्षा दी जाए, इस पर बहुत ही ध्यान केन्द्रित किया जाता है। मसलन: उन्हें नैतिक शिक्षा दी जाए, पर्यावरण की शिक्षा दी जाए, मूल्यों की शिक्षा दी जाए लेकिन समूचे राष्ट्रीय स्तर पर सजगता व ध्यान की कोई शिक्षा नहीं दी जाती है। एक सजग मस्तिष्क ही किसी भी शिक्षा को अंततः ग्रहण करता है लेकिन इस मस्तिष्क को सूचनाओं से लैस कर अंततः इसकी धार को कुन्द ही किया जा रहा है। मस्तिष्क की सजगता कैसे बढ़े? मस्तिष्क कैसे ज्यादा से ज्यादा ग्रहणशील हो सके? इसके लिए ध्यान (Meditation) की भूमिका अत्यंत ही निर्णायक हो सकती है। एक सजग मस्तिष्क ही अंततः जीवन की ऊँचाइयों व गहराइयों की खोज-बीन कर सकता है। न्यूटन से पहले भी बगीचे में वृक्ष से सेब गिरा करते थे लेकिन यह न्यूटन की मानसिक सजगता का ही परिणाम था कि उसके मन में सेब के गिरने के सम्बन्ध में मौलिक प्रश्न उठे। हमारी शिक्षा-व्यवस्था में इस मानसिक सजगता को ज्यादा प्रखर व प्रगाढ़ बनाने की कोई व्यवस्था अंतर्निहित नहीं है। मानसिक सजगता को बढ़ाने में ध्यान की विभिन्न विधियों का प्रयोग किया जा सकता है। ध्यान-विधियों में विपश्यना एक महत्वपूर्ण विधि हो सकती है। इसका भी प्रयोग किया जा सकता है कि कौन सी ध्यान

विधियाँ ज्यादा सार्थक सिद्ध हो सकती हैं। ध्यान की विधियों का उल्लेख हमारी ज्ञान-परम्परा में प्राचीन काल से ही प्राप्त होता है लेकिन वैज्ञानिकता की सनक में धीरे-धीरे हम अपनी सहयोगी परम्पराओं को भी अप्रासंगिक मानने लगे हैं। ध्यान की विधियों का पाठ्यक्रम में शामिल होना इसलिए और ज्यादा महत्वपूर्ण हो जाता है क्योंकि आज के भौतिकतावादी युग में मन को आकर्षित व विचलित करने वाले साधनों में अप्रत्याशित रूप से वृद्धि हो गई है। बाजार में रोज नए उत्पादों की ऋंखला का आकर्षण हो या फिर हर घर में मौजूद टी. वी. व केबल चैनलों में प्रचार का अनवरत आकर्षण, आज के व्यक्ति का मानसिक विचलन तुलनात्मक रूप से बहुत ज्यादा बढ़ गया है। ठीक यही बात, मानव-मस्तिष्क पर भी लागू होती है। हम भौतिकतावाद व मीडिया आकर्षण के प्रति अगर कोई थोपे गये अनुशासन व दमन का प्रयोग करते हैं तो यह व्यक्ति को और ज्यादा कुंठित व रुग्ण बना सकता है और उसके आकर्षण को भी बढ़ा सकता है। यही नहीं इनके जो सीमित लाभ हैं, उनसे व्यक्ति को वंचित कर सकता है। अतः यह आवश्यक है कि ध्यान के प्रयोगों को पाठ्यक्रम का एक अनिवार्य अंग बनाया जाए। वर्तमान शिक्षा व्यवस्था केवल शरीर-केन्द्रित है। इसमें शारीरिक शिक्षा, बौद्धिक शिक्षा, साधनों की शिक्षा और अंत में यौन शिक्षा आदि को शामिल किया जाता है लेकिन शरीर को संचालित करने वाली चेतना की शिक्षा कहीं शामिल नहीं है। संप्रति मानव-सभ्यता जो पतन व विध्वंस के अनसुलझे प्रश्नों से गुजर कर दो-चार हो रही है, इसका मूल कारण यही है।

उपर्युक्त समूचे प्रयोग वर्तमान शिक्षा-व्यवस्था की सीमा को ध्यान में रखकर किए गए हैं। व्यवस्था की अपनी कुछ सीमा है और कुछ मजबूरियाँ लेकिन इस शिक्षा-व्यवस्था के समानान्तर भी एक मौलिक विकल्प खड़ा किया जा सकता है। •



## भारतीयों के लिये आदर्श जीवन दृष्टि क्या हो ?

डॉ० आनन्द मिश्र

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।  
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥

मुण्डकोपनिषद् ३/१/१

दो पक्षी एक वृक्ष पर साथ-साथ सखा भाव से बैठे हुए हैं। उनमें से एक फुदक-फुदक कर इस डाल से उस डाल पर जाता हुआ फलों का रसास्वादन कर रहा है, और एक चकित भाव से यह सब देख रहा है।

इन दो पक्षियों के माध्यम से जीवन के प्रति दो दृष्टियों का रूपायण किया गया है। जगत् एवं जीवन के सम्बन्ध में हमारी दो तरह की दृष्टि हो सकती है— एक उसकी स्वीकृति की तथा दूसरी उसके निषेध की। एक भोग की और दूसरी परित्याग की, प्रवृत्ति की अथवा निवृत्ति की, कर्म की अथवा संन्यास की। भारतीय जीवन दृष्टि को बहुधा निवृत्तिपरक तथा संन्यासवादी कहा जाता है तथा पश्चिमी जीवनशैली को प्रवृत्तिपरक और भोगवादी। मोटे तौर पर ऐसा होने के बावजूद इधर कुछ दिनों से, या कहिए कि पिछली शताब्दी से भारतीय जीवनचर्चा में बदलाव दिखाई पड़ रहा है। आधुनिकीकरण, वैश्वीकरण या जिन भी कारणों से भारतीय अब धर्म-अध्यात्म के स्थान पर भौतिक प्रगति की ओर अधिक उन्मुख दिखने लगे हैं। युवाओं में अधिक से अधिक भौतिक समृद्धि को अर्जित करने की तथा उनका यथेच्छ उपभोग करने की उत्कट लालसा देखी जा सकती है। सबको आगे बढ़ने की तथा सबसे आगे बढ़ने की जल्दी है। कोई पीछे नहीं रहना चाहता है। पूँजीवाद और उपभोक्तावाद के इस युग में आर्थिक समृद्धि जीवन का सर्वोच्च मूल्य हो गया है। हमें किसी भी कीमत

पर गाड़ी चाहिए, मकान चाहिए, जीवन के उपभोग की सारी सामग्री चाहिए। 'अर्थ' के सर्वोच्च मूल्य बन जाने से जीवन के सारे मूल्य गौण हो गये हैं। धर्म और नैतिकता की बात अप्रासंगिक हो गयी है। परम्परागत मूल्य और सम्बन्ध बेमानी हो गये हैं। आदर्शों की बात खोखली हो गयी है। अपना 'स्वार्थ' ही महत्त्वपूर्ण हो गया है। जो पीछे छूट जा रहा है उसकी चिन्ता किसी को नहीं है। पिता पिता नहीं रह गया है, पुत्र पुत्र नहीं, और सम्बन्धों की तो बात ही छोड़ दें। इस बेतहाशा दौड़ के बावजूद हाथ में कुछ सार्थक नहीं आ रहा है। आगे बढ़ने की इस गलाकाट प्रतियोगिता में ज़ाहिर है, सबको उसकी अपेक्षा का तो हासिल नहीं हो सकता है। फिर अन्ततः जीवन का स्वभाव ही कुछ ऐसा होता है कि इसमें सब कुछ अपने हिसाब से नहीं हो सकता है। फलतः तनिक भी असफलता या प्रतिकूलता भयंकर अवसाद को जन्म दे दे रही है। अपने मूल से, अपनी शाश्वत धरोहर से, पुरातन एवं सनातन धार्मिक नैतिक मूल्यों से, अपने सगे सम्बन्धियों और पड़ोसियों से तथा अन्ततः स्वयं अपने से टूटे हुए व्यक्ति के हिस्से में अन्त में घोर निराशा और अवसाद ही शेष बचता है। यह किसी एक व्यक्ति की कहानी नहीं है। आज की पीढ़ी की मानो यही नियति हो गयी है। भारतीय मानस की यह भग्न मनोदशा आज हकीकत है। ऐसा भी नहीं है कि इस संभावित भग्न मनोदशा का भान किसी को नहीं रहा है। हमेशा से सभ्यता और संस्कृति पर पैनी नज़र रखने वाले सुधीजन, सन्त, महात्मा या दूसरे आगाह करते रहे हैं और अभी भी कर रहे हैं कि प्रगति की यह राह — विकास की यह राह हमें



पतन की ओर ले जा रही है, कि हम नैतिक, आध्यात्मिक और सांस्कृतिक पतन की ओर तेजी से बढ़ रहे हैं।

ऊपर के विवेचन से सामान्य सहमति पायी जाने के बावजूद मुझे इसे स्वीकार करने में संकोच है। यह स्वीकार करने का मैं कोई आधार नहीं पाता हूँ कि हम नैतिक, आध्यात्मिक और सांस्कृतिक पतन के रास्ते पर जा रहे हैं। बल्कि यह मानना चाहिए कि देश प्रगति के रास्ते बहुत तेजी से आगे बढ़ रहा है। भौतिक समृद्धि जिसमें दुर्भाग्य से पिछली कुछ शताब्दियों से हम अत्यन्त पिछड़ गये थे, उस ओर तेजी से आगे बढ़ रहे हैं। इस देश के नागरिक स्वयं को और अपने देश को सुखी, सम्पन्न और समृद्ध बनाने के अघोषित लक्ष्य की ओर बहुत तेजी से बढ़ रहे हैं। ऐसे में मूल्यों के हास, नैतिकता के पतन, सदियों की सनातन परम्परा के क्षय को आवश्यकता से अधिक रूपायित करने की, अतिरंजित करने की कोई आवश्यकता नहीं है। बल्कि ऐसा कर हम देश को किसी न किसी रूप में प्रगति-प्रतिगामी ही बनाते हैं। मौजूदा विकास को बहुधा भौतिकता की अन्धी आँधी के रूप में चित्रित किया जाता है और यह कहा जाता है कि हम भौतिक रूप से भले ही अधिक विकसित होते जा रहे हैं। पर नैतिक एवं आध्यात्मिक रूप से खोखले होते जा रहे हैं। पर यह सहज ही पूछा जा सकता है कि भौतिक सुसम्पन्नता और समृद्धि तथा आध्यात्मिकता में किसी राष्ट्र के लिये अधिक वरणीय आदर्श क्या हो सकता है ? मेरा यह मानना है कि उपयुक्त सामाजिक आदर्श भौतिक समृद्धि ही हो सकती है। यदि पुरुषार्थ की चर्चा हम व्यक्ति नहीं बल्कि समूह, समाज या राष्ट्र के सन्दर्भ में करें तो हम कह सकते हैं कि 'अर्थ' ही वह प्रधान पुरुषार्थ होगा जिसको केन्द्र में रखकर सम्पूर्ण राष्ट्रीय गतिविधियों का

संयोजन होना चाहिए। मोक्ष किसी विशेष व्यक्ति के लिए वरणीय पुरुषार्थ हो सकता है, कदाचित् किसी छोटे समुदाय विशेष का पुरुषार्थ हो सकता है पर मोक्ष को हम सम्पूर्ण राष्ट्र के लोगों के लिए, सम्पूर्ण राष्ट्र के लिए परमपुरुषार्थ नहीं बना सकते हैं। जहाँ तक व्यक्ति का प्रश्न है तो मोक्ष का प्रश्न महत्त्वपूर्ण हो सकता है पर इसे व्यक्ति सामान्य का चरम पुरुषार्थ नहीं बनाया जा सकता है। ऐसा बनाने का दुष्परिणाम हम अतीत में देख चुके हैं। मोक्ष का आदर्श जीवन के निषेध का आदर्श है। इस मोक्षवादी और निवृत्तिपरक जीवन दृष्टि से कैसे इस देश ने अतीत में कई शताब्दियों तक दासता और दारिद्र्य के दुर्दिन देखे, इसे यहाँ रूपायित करने की मैं कोई आवश्यकता नहीं समझता, यह तो स्पष्ट ही है।

शताब्दियों की बाह्य एवं आन्तरिक दासता से जब यहाँ के लोगों ने मुक्त होकर समानता, स्वतन्त्रता और बन्धुत्व के आदर्श पर टिकी लोकतान्त्रिक व्यवस्था को अधिगमित किया है तथा एक लोकतान्त्रिक धर्मनिरपेक्ष गणराज्य के अंग हुए हैं, ऐसे दौर में उन्हें अपनी मूल्य-सरणी को नए सिरे से संरचित करने की आवश्यकता है। मोक्ष, अध्यात्म और ऐसे दूसरे लोकोत्तर मूल्यों का हमने खूब अनुशीलन किया, और उसके सभ्यतागत परिणामों को भी हमने निकट से महसूस किया। जीवन एवं जगत् के नकार पर आधारित निवृत्तिमूलक जीवनदर्शन के स्थान पर एक सकारात्मक जीवनदृष्टि को विकसित करने की तत्काल आवश्यकता है। हमें एक ऐसी मूल्य व्यवस्था विकसित करनी होगी जो सकारात्मक हो, जो जीवन को उसकी सम्पूर्णता में स्वीकार करे। सच पूछिये तो हमें अपनी पुरुषार्थ-प्रणाली को नए ढंग से संयोजित करने की आवश्यकता है। हमने धर्म और मोक्ष की बात बहुत की। अब आवश्यकता है अर्थ को केन्द्र बनाने की।

अर्थ केन्द्रित एक नयी मूल्य व्यवस्था को संरचित करना होगा। इस दरिद्र देश को समृद्ध एवं सम्पन्न बनाने से बढ़कर हमारा कोई राष्ट्रीय आदर्श नहीं हो सकता है। ऐसी स्थिति में यदि इस देश के लोगों में अधिक से अधिक भौतिक सुख समृद्धि को हासिल करने की होड़ है, सबको जल्दी से जल्दी अमीर बनने की पड़ी है, सारे मूल्य गौण होकर अर्थानुगामी हो गए हैं, भौतिक सुख-समृद्धि ही सब कुछ हो गयी है तो यह कहीं से भी अशुभ का संकेत नहीं है। वस्तुतः जिसे लोग अन्धी दौड़ कह रहे हैं वह तो हमारा सुचिन्तित राष्ट्रीय आदर्श है। अतः जब लोग निर्धारित लक्ष्य की ओर तेजी से अग्रसर हैं तो किसी तरह की शिकायत की कोई जरूरत नहीं। मूल्यों के पतन, नैतिकता में पतन, परम्परागत मूल्यों में क्षरण, संस्कृतिक पतन आदि की कोई दुहाई देने की आवश्यकता नहीं है। इस देश के लोगों ने अभी तक जीवन एवं जगत् की निस्सारता की बात की और उसके त्याग एवं मोक्ष की बात की। अब वे उसको नए ढंग से देख रहे हैं। उसको उसकी पूरी सम्पूर्णता में स्वीकार कर रहे हैं। वस्तुतः यह जगत् तो भोग जगत् है। जीवन या जगत् त्याग के लिये नहीं अपितु भोग के लिए है।

भौतिक समृद्धि को आदर्श राष्ट्रीय लक्ष्य के रूप में मानने में भले कोई दिक्कत न हो पर जब हम इसे व्यक्तिगत जीवन का भी चरम लक्ष्य स्वीकार कर लेते हैं तो दिक्कत अवश्य खड़ी होती है। भौतिक समृद्धि के लक्ष्य को निरन्तर नई-नई वस्तुओं की चाहत और उनके उपभोग की कामना में बदलते देरी नहीं होती है। भौतिकतावादी जीवनदृष्टि उपभोक्तावाद और विलासितावाद की सहचरी साबित होती है। अब ऐसे जीवन के ढंग को व्यक्ति के लिये आदर्श के रूप में प्रस्तुत करने में कठिनाई जरूर दिखती है। कठिनाई कई कारणों से हो सकती है।

पहले तो यह जरूरी नहीं कि जीवन आपके अनुसार चले, सब कुछ आपके अनुकूल हो, आपको सफलता ही सफलता मिले। फिर गलाकाट प्रतियोगिता में सब तो सफल नहीं हो सकते। पुनः यदि सब कुछ आपके अनुसार चले भी तो भी अन्त में एक ऐसी स्थिति पहुँचती है जहाँ आगे कुछ नहीं बचता है। ऐसी स्थिति में निराशा, हताशा, असफलता, ऊब, एकाकीपन, अलगाव, अवसाद व्यक्ति की नियति बनकर सामने आते हैं। यह सही है कि हम चलते तो हैं सुख की तलाश में, सम्पूर्णता की तलाश में और हमारे हिस्से अन्ततः असफलता, विषाद और अलगाव आते हैं। दूसरी बात यह है कि उपभोगपरक अर्थपरक जीवनशैली में, ऐसी जीवनशैली जिसमें व्यक्ति निरन्तर नए नए उपभोग सामग्री को एकत्रित और उनका भोग करता है, उसमें व्यक्ति को स्वयं अपने लक्ष्य की चेतना नहीं रहती है। अस्तु, यह सारा आयोजन अचेतनपूर्वक होता है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि इस उपभोक्तावादी जीवनशैली के भी अपने ही लाभ हैं। जहाँ यह एक ओर व्यक्ति की हताशा, असफलता को बहुधा प्रदीप्त करता है, उसकी अतृप्त भोगेष्णा को प्रज्ज्वलित करता है, वहीं दूसरी ओर निरन्तर नई-नई वस्तुओं को हासिल करने की उसकी चाहत मूलभूत अस्तित्वगत रिक्तता को तात्कालिक रूप से ही सही भरने का किंचित् कार्य तो करती है।

वस्तुतः जगत् में मानवीय व्यापार का मनोविज्ञान यह है कि मनुष्य अपनी अस्तित्वगत रिक्तता को हजार एक विधि से भरने की चेष्टा करता है। मनुष्य अपने तमाम सांसारिक कार्य व्यापारों द्वारा वस्तुतः अपने खालीपन को भरने की चेष्टा करता है। नये नये वस्तुओं को हासिल करने की मानवीय प्रवृत्ति वस्तुतः मूल में उसके इसी खालीपन को भरने का प्रयास है। अतः उपभोक्तावादी



जीवन ढंग का कम से कम यह तो लाभ है कि यह निरन्तर चूँकि अस्तित्वगत रिक्तता को नई नई चीजों से भरती रहती है, अतः मनुष्य को अपने अस्तित्व मूलक रिक्तता का अहसास नहीं होता। पर दिक्कत तब होती है जब मनुष्य को एकाएक वस्तुओं की, अथवा स्वयं अपने अस्तित्व की या अपनी जीवनशैली की इस वास्तविकता से साक्षात्कार होता है। जीवन में एकाएक ऐसे क्षण आ सकते हैं जब हमें इनकी निस्सारता समझ में आती है। वस्तुएँ हमें विकर्षित करने लगती हैं, जीवन की दौड़ बेमानी लगने लगती है। या फिर कभी ऐसा हो सकता है कि हमें जिससे राग हो वह हमें धोखा दे जाए। या फिर जीवन हमें हमारी शर्त नहीं अपनी शर्तों पर जीने के लिये मजबूर कर जाए।

अतः ऐहिक समृद्धि को जीवन का लक्ष्य बनाने में कोई बुराई नहीं, तन्निमित्त अपने जीवन को समर्पित कर देने में कोई बुराई नहीं। हाँ, जो चीज अपेक्षित है वह है उसकी प्राप्ति की तैयारी। हमें जीवन को जरूर इस ढंग से जीना होगा कि हम इसे समृद्ध बनायें, पर यदि हम इसमें सफल न हों तो हम अवसाद या निराशा के घेरे से फिर कभी बाहर न निकलने के लिये न चले जायें। जीवन जीने की क्या कोई ऐसी कला हो सकती है जो जीवन को भरपूर जीने की बात करे, उसके यथेच्छ भोग की बात करे, उससे निवृत्ति या पलायन की बात न कर उसमें प्रवृत्ति की, भोग की बात करे पर साथ ही भोगवादी जीवन से जुड़े हुए दुष्परिणामों से संप्रक्त भी न हो। मेरा मानना है कि यहीं भारतीय परम्परा की वास्तविक अग्नि परीक्षा है और यही उसकी श्रेष्ठता रही है। हमारे प्रधान शास्त्रों ने कभी भी जगत् त्याग की बात नहीं की, संन्यास की बात नहीं की। गीता किस तरह कर्म संन्यास पर कर्म के महत्त्व को स्वीकारती है यह तो सर्वविदित ही है।

वस्तुतः गीता का दर्शन जगत् की स्वीकृति का दर्शन है, जीवन के भोग का दर्शन है। यह जीवन में प्रवृत्ति का ऐसा मार्ग बताती है जो उपर्युक्त प्रवृत्तिपरक दुष्परिणामों से पूरी तरह मुक्त है। वस्तुतः गीता जब योग को योगः कर्मसु कौशलम् कहती है तो उसका आशय जीवन की इसी कला से होता है। गीतोक्त मार्ग कर्म का मार्ग है। हाँ, यह कर्म में लिप्त होने के बारे में, उसकी फलासक्ति के बारे में अवश्य आगाह करती है। गीता ही क्यों हम पूर्व में ईशावास्योपनिषद् में देख चुके हैं कि किस तरह वहाँ त्यक्तेन भुंजीथाः की बात कही जा रही है, त्यागपूर्वक भोग की बात कही जा रही है।

पीछे हमने मुण्डकोपनिषद् के दो पक्षियों के रूपक की चर्चा की थी। इनके द्वारा कैसे दो अलग-अलग जीवन दृष्टियों को रूपायित किया गया है इस पर भी संक्षिप्त चर्चा हुई थी। इन दो पक्षियों द्वारा भोग एवं योग, राग और विराग, प्रवृत्ति एवं निवृत्ति, कर्म एवं संन्यास के विकल्पों को बड़े ही सुन्दर ढंग से दिखाया गया है। फलों के आस्वादन में रत पक्षी जगत् एवं जीवन के भोग में सम्प्रक्त और आसक्त जीव है जबकि दूसरे के द्वारा जीवन से निवृत्त मुक्त जीव की चर्चा की गयी है। अथवा दूसरे कहते हैं कि एक के द्वारा ईश्वर का तथा दूसरे के द्वारा जीव का चित्रण किया गया है। मेरा तो मानना है कि उपनिषद् के ऋषि इससे अलग कुछ और ही कहना चाहते हैं। जगत् के भोगों का आस्वादन करने वाला जीव ही साक्षी जीवात्मा या ईश्वर है, दोनों पक्षी अलग-अलग नहीं हैं। वस्तुतः उपनिषद् के ऋषि जीवन के उसी कला की बात कर रहे हैं जिसका अनुवाद गीता के योगः कर्मसु कौशलम् और स्थितप्रज्ञ के आदर्श में प्राप्त होता है। हमें जीवन का सम्पूर्ण स्वीकृति के साथ यथेच्छ भोग करना चाहिए। जीवन भागने की नहीं अपितु भोग

की चीज है। हाँ जीवन के भोगों में रत होने के बावजूद, तमाम सुख-समृद्धि के लिये भागते हुए भी हमें कहीं न कहीं अपनी तमाम हरकतों को स्वयं साक्षी भाव से देखने का हुनर भी विकसित करना चाहिए। जीवन संग्राम में सफलता और असफलता दोनों मिलनी है, दोनों को साक्षी भाव से लेना होगा। हमें कहीं न कहीं जीवन के भागम-दौड़ से स्वयं को अलग करने की कला विकसित करनी होगी। इसका अर्थ यह नहीं कि हम भोग-त्याग की बात कर रहे हैं अथवा उनसे पलायन की बात कर रहे हैं। बल्कि हम तो त्यागपूर्वक भोग की बात कर रहे हैं। कहीं न कहीं हमें फलाकांक्षा से, जीवन के राग से ऊपर उठना होगा। जीवन की इस कला का वर्णन उपनिषदों में है, गीता में है। इसकी खासियत यह है कि यह जीवन के त्याग की बात नहीं करती बल्कि उसके सम्पूर्ण भोग की बात करती है। यह कर्म करते हुए भी विकर्म के आदर्श को, भोगपूर्वक योग के आदर्श की बात करती है। यह विदेही जनक और श्री कृष्ण का रास्ता है। लेकिन फिर भी इसकी खासियत यह है कि यह रास्ता नास्तिक और आस्तिक, भोगी और योगी, सबके लिए बराबर महत्त्व का है। इसमें कहीं भी ईश्वर, धर्म, अध्यात्म की बात नहीं है, फिर भी यह कहा जा सकता है कि जीवन जीने की यह कला भोगविद्या और मोक्षशास्त्र का सम्पूर्ण सार है। जीवन को हम भरपूर जीयें पर ऐसा करते हुए उससे कुछ दूरी बनाए रखें ताकि हम इस जीने को देख सकें। •

बहुत समय पूर्व जापान में एक जिले के जिलाधीश थे, चाईसेन। उनके हाथ में सरकार ने बहुत सत्ता दे रखी थी।

एक व्यापारी अपना कुछ बड़ा काम सरकार से निकालना चाहता था। इसके लिए जिलाधीश का सहयोग अपेक्षित था। व्यापारी अशर्कियों की थैली लेकर पहुँचा और बोला, “यह भेंट स्वीकार करें, मेरा काम कर दें। इस भेंट की बात कोई भी नहीं जान पाएगा।”

चाईसेन ने कहा, “यह कैसे हो सकता है कि कोई न जाने। आसमान, पृथ्वी, मेरी आत्मा, तुम्हारी आत्मा और परमात्मा पाँच की जानकारी में जो बात आ गई, उस पाप का भेद तो खुल ही गया। कृपा कर अपनी अशर्कियाँ वापस ले जाइए, अपने कर्तव्य और उत्तरदायित्व को झुठलाना मेरे लिए किसी भी प्रलोभन के बदले संभव न हो सकेगा।



# भौतिक जीवन की सफलता में गीता-दर्शन की उपयोगिता

प्रो० कमलाकर मिश्र

## I - भौतिक जीवन की उपादेयता :

कुछ लोग ऐसा समझते हैं (भारत वर्ष में ऐसा भी समझने की एक परम्परा है) कि भुक्ति (भोग) एवं मुक्ति (मोक्ष) परस्पर विरोधी वस्तुएँ हैं। वे लोग ऐसा कहते हुए सुने जाते हैं कि 'राम' और 'काम' की स्थिति एक साथ नहीं हो सकती, अध्यात्म एवं भौतिकता में विरोध है। उनका ऐसा मानना है कि भगवान की ओर जाने वाला रास्ता एवं संसार की ओर जाने वाला रास्ता परस्पर विरोधी है। फलतः उनका यह कहना है कि जो व्यक्ति आध्यात्मिक प्राप्ति अथवा भगवान की प्राप्ति करना चाहता है उसे संसार एवं सांसारिक भोग-विलास का त्याग करना होगा। इस त्यागवादी विचार के मानने वाले लोग उपनिषद् गीता आदि शास्त्रों की व्याख्या इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं जिससे त्यागवादी अथवा निषेधवादी जीवन-दर्शन निकलता है। गीता, जो व्यावहारिक जीवन-दर्शन विषयक सर्वोत्कृष्ट भारतीय ग्रंथ है, के विषय में भी उनकी यही मान्यता है कि गीता अन्ततः भौतिक मूल्यों का त्याग ही सिखाती है।

प्रस्तुत लेख का उद्देश्य यह दिखलाना है कि पूर्वोक्त त्यागवादी अवधारणा भ्रांतिमूलक है, अध्यात्म एवं भौतिकता में कोई विरोध नहीं है। दोनों में विरोध मानना न तो तर्कसंगत है और न शास्त्रसंगत। भौतिकता को सही अर्थ में लेने पर वह अध्यात्म तत्त्व का स्वातन्त्र्यपूर्ण लीला-विलास बन जाती है और तब उसमें श्रेय एवं प्रेय का स्वाभाविक समन्वय हो जाता है। इस लेख का उद्देश्य यह दिखलाना भी है कि गीता न केवल आध्यात्मिक जीवन एवं भौतिक जीवन में कोई विरोध नहीं

मानती, वरन् भौतिक जीवन की सफलता के लिए भी आधारभूत जीवन-दर्शन प्रस्तुत करती है।

उद्दिष्ट विषय को प्रतिपादित करने के पहले यह उल्लेख करना संगत होगा कि गीता का दर्शन न तो कल्पना पर और न ही कोरे विश्वास पर आधारित है। उसका आधार अनुभव है। गीता में प्रारम्भ में ही यह स्पष्ट कर दिया गया है कि तत्त्वदर्शी पुरुषों ने झूठ और सच दोनों का पता लगा लिया है। तात्पर्य यह कि गीता में जो कुछ कहा जा रहा है वह उसी अनुभूत सत्य पर आधारित है। सब प्रकार से पूर्ण एवं सुखी जीवन का क्या सत्य है इस विषय में प्राचीन भारतीय ऋषियों (जिन्हें आध्यात्मिक वैज्ञानिक कहा जा सकता है) ने भरपूर खोज की है। उनकी उपलब्धियों का विवरण ही श्रुति (उपनिषद्) है। महर्षि व्यास की प्रज्ञा ने उपनिषद् के सत्य को व्यावहारिक जीवन-दर्शन (Applied Philosophy) के रूप में कृष्णार्जुन सम्वाद के व्याज से प्रस्तुत किया। इसीलिए यह मान्यता है कि गीता का ज्ञान उपनिषद् रूपी गायों से दुहा गया दूध है। इस विषय का उल्लेख करने का हमारा तात्पर्य यह है कि चूँकि गीता का ज्ञान अनुभूत सत्य पर आधारित है, अतः हम स्वयं भी अपने अनुभव में उसका सत्यापन (Verification) कर सकते हैं तथा उसके सही या गलत होने की स्वयं पुष्टि कर सकते हैं।

भौतिक जीवन के त्याग की अवधारणा को तर्क की दृष्टि से देखने पर यह बात नहीं बैठती कि स्वयं संसार और सांसारिक वस्तुएँ बन्धन हैं अथवा आध्यात्मिक प्राप्ति में बाधक हैं। आखिर धन-दौलत,



स्त्री-पुत्रादि आध्यात्मिक मार्ग या मोक्ष-मार्ग में क्यों कर बाधक होंगे? आध्यात्मिक बन्धन तो मानसिक होता है जिसका सम्बन्ध मनोवृत्ति से होता है। अतः यदि मनोवृत्ति दूषित है तो वह बन्धन या बाधक है। उदाहरण के लिए, हमारा स्वार्थ, अहंकार, अशुभ आचरण आदि बन्धन हैं न कि सांसारिक वस्तुएँ बन्धन हैं। निषेधवादी परम्परा में यह समझा जाता है कि पुरुष के लिए स्त्री और स्त्री के लिए पुरुष बन्धन हैं। किन्तु समझदारी की बात यह है कि स्वयं स्त्री-पुरुष एक दूसरे के लिए बन्धन नहीं हैं, वरन् स्वार्थपूर्ण कामुक प्रवृत्ति बन्धन है। यदि स्त्री-पुरुष एक दूसरे को प्रेम की दृष्टि (जो स्वार्थ की दृष्टि से ठीक विपरीत है) से देखें तो वे अपनी आध्यात्मिक उन्नति में एक दूसरे के बाधक न होकर साधक बन जाते हैं। स्वार्थ में हम अपना हित चाहते हैं (और दूसरों का शोषण करते हैं), प्रेम में हम दूसरों का हित चाहते हैं। सब में अपने को देखना अर्थात् सबको अपना समझना और उनका हित चाहना (अर्थात् सबसे प्रेम करना)—— इसे अद्वैत-भावना कहते हैं और यही तो स्वरूप-प्राप्ति या मोक्ष-प्राप्ति का साधन है। द्वैतभावना (स्वार्थ) बन्धन का कारक है और अद्वैत-भावना (प्रेम) मुक्ति का कारक है। यह भी समझने की बात है कि इस अद्वैतभावना या विश्वप्रेम का प्रारम्भ अपने सबसे निकट के व्यक्तियों से होता है। इस दृष्टि से परिवार के लोगों और परिजनों को हम अपने मुक्तिमार्ग में साधक बना सकते हैं। तात्पर्य यह कि केवल इतना ही नहीं है कि संसार हमारे मुक्तिमार्ग में बाधक नहीं है, बल्कि यह भी है कि यदि हम उसे सही मनोवृत्ति के साथ ग्रहण करें तो वह हमारे लिए साधक हो जाता है। इसीलिए ऐसे लोग उदाहरणस्वरूप मिल जाएँगे जो संसार में रहते हुए मुक्ति पाते हैं, और ऐसे लोग भी मिल जाएँगे जो

संसार को छोड़ने पर भी मुक्ति पाने में असफल रहते हैं। दोनों बातों का कारण एक ही है।

संसार बन्धन है या नहीं——इस विषय में एक और बात समझने की है। वह यह कि यदि संसार बन्धन-कारक होता और उसमें रहना बुरा होता तो परमात्मा सृष्टि ही क्यों करता? यदि संसार हमारे अहित के लिए है तो यह असंगत बात होगी कि परमात्मा उसकी सृष्टि करे। वस्तुतः संसार परमात्मा (ब्रह्म या शिव) के ऊपर रज्जु-सर्प की भाँति पड़ा हुआ आवरण या बन्धन नहीं है, वरन् यह शिव का स्वातन्त्र्यपूर्ण लीला विलास है। इसमें जो बुराई आई है वह शिव से नहीं आई है वरन् हमारे स्वार्थपूर्ण अहंकार से (या अहंकारपूर्ण स्वार्थ से) आई है जिसकी सृष्टि हमने अपने स्वयं के स्वातन्त्र्य का दुरुपयोग करके किया है। यदि हम लीलाधर के नियमों का पूर्ण रूप से पालन करें और अपने इच्छा-स्वातन्त्र्य के दुरुपयोग से अशुभ पैदा न करें, तो यह संसार तो शिव की लीला-सृष्टि——नटराज का आनन्दनर्तन है ही। फिर तो यह संसार शिव से हमें जोड़ने में साधक होगा ही।

इतना ही नहीं है कि तर्क या युक्ति की दृष्टि से देखने पर भौतिक संसार बाधक नहीं सिद्ध होता, वरन् यह भी है कि मूलशास्त्रों में उसे बाधक नहीं कहा गया है। वेद (उपनिषद् जिसके अंग हैं) भारतीय संस्कृति के मूल शास्त्र हैं। वेद का विद्यार्थी बेहिचक यह कह सकता है कि वेद में कहीं भी भौतिक जीवन एवं जगत् के प्रति निषेधात्मक दृष्टिकोण नहीं अपनाया गया है। वेद की ऋचाएँ तो भौतिक वस्तुओं की प्राप्ति के लिए प्रार्थना से भरी पड़ी हैं। वेद के अंग 'रुद्राष्टाध्यायी' में, जिसके पाठ की परम्परा हिन्दू समाज में बहुतायत से है, सम्पूर्ण भौतिक समृद्धि एवं भौतिक परिपूर्णता के लिए लम्बी सूची वाली प्रार्थना है। वैदिक यज्ञ-यागादि भी

कामनाओं की पूर्ति के लिए हैं। वेद में इस बात के प्रचुर संकेत हैं कि मनुष्य भौतिक प्रकृति को पूज्य भाव से ग्रहण करे क्योंकि प्रकृति परम-पुरुष (ब्रह्म या शिव) का ही शरीर है। वेद की यह अवधारणा हमें दो अतिवादों से बचाती है—एक अतिवाद जिसे विज्ञान ने दिया है और जिसके अनुसार हम अहंकारपूर्वक प्रकृति को अपने सुख-भोग का साधन मात्र समझकर उसका शोषण करते हैं, और दूसरा अतिवाद जिसे निषेधवादी धारा ने दिया है जिसके अनुसार हम प्रकृति को बन्धनकारी एवं तुच्छ समझकर उसका त्याग कर देते हैं। प्रकृति न तो त्याज्य तुच्छ वस्तु है और न ही स्वार्थपूर्ण भोग की सामग्री मात्र है, वरन् प्रकृति शिव का स्वरूप समझकर आदरपूर्वक ग्रहण करने योग्य वस्तु है, जिसका सहारा लेकर हम अपने स्वरूप की प्राप्ति कर सकते हैं और सहज नित्य आनन्द की स्थिति को पा सकते हैं जिसमें श्रेय एवं प्रेय दोनों का स्वाभाविक समन्वय है।

उपनिषद् ने भौतिकता (प्रवृत्ति या अविद्या) के अविवेकपूर्ण त्याग के प्रति आगाह किया है और ऐकान्तिक तथाकथित आध्यात्मिकता (निवृत्ति या विद्या) की निन्दा की है। उदाहरणस्वरूप, ईशावास्योपनिषद् में एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण एवं गम्भीर ज्ञान की बात कही गई है; कहा गया है— “जो लोग अविद्या (प्रवृत्तिमार्ग या सांसारिक भोग का मार्ग) की उपासना करते हैं, वे तो अंधकार में हैं ही, जो लोग विद्या (निवृत्तिमार्ग या सन्यासमार्ग) में रत हैं, वे और भी अधिक अंधकार में हैं”। आगे का श्लोक कहता है— “जो विद्या और अविद्या दोनों को साथ समझता है, वह अविद्या की सहायता से मृत्यु का तरण कर विद्या की सहायता से अमृतत्व की प्राप्ति करता है”। ‘विद्या’ में रत रहने वाले, अविद्या वाले की तुलना में अधिक अंधकार में हैं यह

समझना कठिन नहीं है। ‘विद्या’ में रत रहने वाले व्यक्ति अपनी वासनाओं का दमन करते हैं। दमन से वासनाएँ नष्ट नहीं होतीं, वे अन्तर्मन (Unconscious Mind) में स्थित रहती हैं। फलतः भीतर से व्यक्ति भोग-वासना से ग्रस्त रहता है और ऊपर से अपने को त्यागी या कामजयी समझता है। इस प्रकार वह अपने को कामजयी समझने वाले भ्रमित नारद की भाँति दुगुने अज्ञान में रहता है।

गीता, जो उपनिषदों पर आधारित व्यावहारिक जीवन-दर्शन प्रस्तुत करती है, में उक्त प्रकार के मिथ्या त्याग की निन्दा की गई है। कहा गया है कि जो व्यक्ति कर्मेन्द्रियों को विषयों की ओर जाने से रोके रहता है किन्तु मन से विषय-वस्तुओं का स्मरण करते रहता है, वह मूढ़ है और मिथ्याचारी (पाखण्डी) है। इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय है कि वासनाओं का निराकरण उनके उदात्तीकरण से ही होता है; उनका मात्र दमन करने से तो उनका विनाश नहीं होता और अपने विना जाने भी अन्तर्मन से उनके विषयों का स्मरण होता रहता है। इसीलिए गीता में उक्त बात कही गई है। वैसे, विषय वस्तुओं में स्वयं में कोई दोष नहीं है, दोष तो उनके प्रति हमारे मन में होने वाले राग-द्वेष एवं आसक्ति में है। अतः राग-द्वेष से वियुक्त होकर विषयों का उपभोग करने में कोई आपत्ति नहीं है। साथ ही, गीता में यह बात ग्राह्य नहीं है कि इन्द्रियों को विषयों में जाने ही नहीं दिया जाए, वरन् यह ग्राह्य है कि एक तो इन्हें वश में रखा जाए (अन्यथा अनर्गल होकर वे दुःख का कारण बनेंगी), और दूसरे, उन्हें राग-द्वेष से वियुक्त रखा जाए। गीता में स्पष्ट कहा गया है— “अपने वश में रहने वाली तथा राग-द्वेष से वियुक्त इन्द्रियों से विषयों का उपभोग करनेवाला व्यक्ति प्रसन्नता को प्राप्त होता है”।



यह सर्वविदित है कि गीता में संन्यास की जो अवधारणा है वह संन्यास की प्रचलित निषेधवादी अवधारणा से सर्वथा भिन्न है। गीता के अनुसार संन्यास का अर्थ सांसारिक कर्मों अथवा सांसारिक वस्तुओं का त्याग नहीं है, वरन् संन्यास का अर्थ अहंकार एवं आसक्ति का त्याग है। गीता का संन्यास संसार को लेकर है, संसार को छोड़कर नहीं। इसीलिए गीता का संन्यास-योग (ज्ञानयोग) एवं गीता का कर्मयोग एक ही है। यह बिल्कुल सम्भव है कि हम अपने आप में परिपूर्ण रहें, अनासक्त एवं राग-द्वेष से वियुक्त रहें, साथ ही सांसारिक कार्यों एवं सांसारिक वस्तुओं का पूर्ण रूप से ग्रहण भी करें। ऐसा होना केवल सम्भव ही नहीं है वरन् आत्मानन्द की प्राप्ति के लिए परम उपादेय भी है।

## **II- आध्यात्मिक प्राप्ति से भौतिक जीवन में समृद्धि :**

गीता के सन्दर्भ में अब तक जो प्रस्तावना दी गई उसका तात्पर्य यह बताना है कि भौतिक जीवन अध्यात्म के लिए बाधक तो है ही नहीं, वह अध्यात्म के लिए तथा अपने आप में भी उपादेय है। अब हम यह दिखलाने का प्रयास करेंगे कि अध्यात्म से भौतिक जीवन में भी सहायता मिलती है, आध्यात्मिक प्राप्ति होने पर भौतिक जीवन में भी समृद्धि एवं परिपूर्णता आती है। गीता में इस बात के लिए प्रचुर संकेत हैं।

यह तो अनुभवसिद्ध ही है कि भौतिक जीवन के सभी व्यावसायिक क्षेत्रों में सफलता के लिए प्रतिभा-शक्ति की आवश्यकता होती है। उदाहरण के लिए कोई व्यक्ति अच्छा डॉक्टर, अच्छा वकील, अच्छा मैनेजर, अच्छा इंजीनियर, अच्छा राजनीतिज्ञ, आदि तभी हो सकता है जब कि उस व्यक्ति में प्रतिभा-शक्ति का प्रवाह होता हो। प्रतिभा

के विषय में भारतीय मनीषियों की यह सफल खोज रही है कि हमारा जो ऊपरी स्वात्मा है जिसे अहंकार या 'अहं' (ego) कहते हैं, उसमें प्रतिभा नहीं होती। प्रतिभा का स्रोत 'अहं' (ego) के आधार में रहने वाले परम आत्मा (Higher self) की है। परम-आत्मा की प्रतिभा-शक्ति 'अहं' (ego) के ही माध्यम से प्रकटित होती है, किन्तु 'अहं' तो उस शक्ति का प्रयोजक मात्र है, उत्पादक नहीं। इस बात को एक दृष्टान्त की सहायता से अच्छी तरह समझा जा सकता है। बिजली का स्विच दबाने से विद्युत् प्रवाह चालू हो जाता है और बल्ब जलने लगता है, मशीन चलने लगती है, आदि। देखने में तो यही लगता है कि विद्युत् का प्रवाह स्विच से हुआ, किन्तु वास्तविकता यह है कि विद्युत् का स्रोत पावर-हाउस है न कि स्विच। स्विच का सम्बन्ध पावर-हाउस से बना हुआ है, इससे बिजली स्विच तक आ जाती है और आगे यों कह सकते हैं कि स्विच पावर हाउस से मिली विद्युत् शक्ति को विभिन्न कामों में लगा देता है। यह स्पष्ट है कि यदि स्विच का सम्बन्ध पावर हाउस से टूट गया है अथवा पावर हाउस से बिजली नहीं मिल रही है तो स्विच कितना भी कसरत करे काम नहीं होगा। इस दृष्टान्त की सहायता से समझने की बात है कि 'अहं' (ego) स्विच की भाँति है, परम आत्मा (Higher self) पावर हाउस की भाँति है और प्रतिभा-शक्ति विद्युत् शक्ति की भाँति है जो (परम) आत्मा रूपी पावर हाउस में पैदा होती है। स्पष्ट है कि आत्मा की ही प्रतिभा-शक्ति 'अहं' के माध्यम से प्रकटित होकर सभी कार्य सम्पादित करती है। यदि 'अहं' को आत्मा से शक्ति न मिले तो 'अहं' के लाख कसरत करने के बावजूद कार्य नहीं होगा, क्योंकि 'अहं' तो केवल प्रयोजक-कर्ता है। परम आत्मा से जितनी अधिक अनुकूलता होगी और फलतः

जितना अधिक सान्निध्य होगा, प्रतिभा-शक्ति का 'वोल्टेज' भी उतना ही ऊँचा होगा।

उपनिषद् में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि आत्मा (परम आत्मा - Higher self) के ही प्रकाश से सारा जगत् चमकता है। अर्थात् आत्मा (ब्रह्म) की ही शक्ति से जगत् शक्तिमान है। गीता में तो एक पूरा अध्याय ही (दशवाँ अध्याय) इसी बात को समझाने के लिए दिया गया है। उस अध्याय में जगत् की प्रायः अच्छी वस्तुओं का नाम गिनाकर कहा गया है कि परमात्मा ही उस रूप में स्थित है अथवा वह सब परमात्मा से ही उत्पन्न है। अध्याय के अंत में निचोड़ रूप में भगवान् कृष्ण (परमात्मा) अर्जुन को कहते हैं कि जगत् में जो भी 'विभूतिमान' (वैभवशाली) 'सत्त्व' (प्राणी) देखो जो 'श्री' (लक्ष्मी एवं तेज) तथा 'ऊर्जा' (शक्ति) से युक्त है, उस सबको मेरे तेज से उत्पन्न हुआ समझो। काम-शक्ति को भी परमात्मशक्ति ही माना गया है। भगवान् ने दो जगह कहा है— प्राणियों में रहने वाला काम मैं ही हूँ ('प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः'— गीता १०/२८, तथा 'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ' —गीता ७/११)। तात्पर्य यह है कि जगत् में जो भी विभूति, शक्ति, तेज, सौन्दर्य, काम, प्रेम आदि है उस सबका स्रोत परम आत्मा ही है। तात्पर्य यह कि केवल आध्यात्मिक कही जाने वाली ऊर्जा ही आत्मा से नहीं आती वरन् समस्त जागतिक ऊर्जा भी आत्मा से ही आती है; जगत् के विभिन्न क्षेत्रों में सफलता दिलानेवाली ऊर्जा (प्रतिभा-शक्ति) वस्तुतः आत्मिक (आध्यात्मिक) ही है। यह नहीं समझना चाहिए कि जागतिक सफलता का आध्यात्मिक प्राप्ति से कोई सम्बन्ध नहीं है; वस्तुतः जागतिक प्राप्ति की शक्ति भी अध्यात्म से ही आती है।

स्पष्ट है कि जिस व्यक्ति को आत्मा की सन्निधि या आत्मा का प्रकाश जितना ही अधिक

प्राप्त होगा उसमें प्रतिभा-शक्ति उतनी ही अधिक होगी और वह उतना ही अधिक उस शक्ति का उपयोग जागतिक कामों में कर सकेगा। भारतीय अध्यात्मशास्त्र, गीता जिसका अंग है, ने स्पष्ट किया है कि आत्मा (परम आत्मा Higher Self) ही हमारा वास्तविक स्वरूप है; अपने इस वास्तविक स्वरूप की प्राप्ति को ही मुक्ति या मोक्ष नाम से कहा गया है। आत्मा के ऊपर मलावरण पड़ा हुआ है जिससे स्वरूप की प्राप्ति नहीं होती। अतः जितनी ही अधिक आत्मशुद्धि होगी उतना ही अधिक आत्मा का प्रकाश प्राप्त होगा और उतनी ही अधिक प्रतिभा-शक्ति निर्मुक्त (released) होगी। दूसरे शब्दों में, जितना ही अधिक हमें स्वरूप की प्राप्ति (मोक्षप्राप्ति) होगी उतना ही अधिक हम प्रतिभाशक्ति-सम्पन्न होंगे और हम उतना ही अधिक जागतिक जीवन को भी अच्छा बना सकेंगे। मोक्ष कोई मरने के बाद मिलने वाली और पारलौकिक वस्तु नहीं है वरन् वह इसी जीवन और इसी लोक की वस्तु है। आत्मप्राप्ति (मोक्षप्राप्ति) ऐसा पुरुषार्थ है जिसकी सिद्धि होने पर जागतिक पुरुषार्थों की भी सिद्धि होती है। यह भी नहीं है कि इस जीवन में हम पूर्णतया बद्ध हैं। थोड़े मुक्त तो हम हैं ही, क्योंकि आत्मा का प्रकाश थोड़े रूप में तो आ ही रहा है जिससे हम सोचते विचारते हैं और सब काम करते हैं। इतना ही है कि अशुद्धि या मलावरण होने के कारण आत्मा का पूरा प्रकाश नहीं मिल रहा है। अतः जितना ही अधिक मलावरण दूर होकर आत्मशुद्धि होते जाएंगी उतना ही अधिक हम मुक्त होते जाएँगे (अर्थात् उतना ही अधिक आत्मस्वरूप को प्राप्त करते जाएँगे) और फलतः उतना ही अधिक हम शक्तिसम्पन्न, ज्ञानसम्पन्न एवं सुखी होते जाएँगे। स्मरणीय है कि मोक्ष के सुख में संसार का सुख भी समाहित है, जगदानन्द में ब्रह्मानन्द अनुस्यूत है, क्योंकि जगदानन्द भी ब्रह्म



(शिव) का ही स्वातन्त्र्यपूर्ण लीला-विलास है—  
चित्शक्ति का स्वतःस्फूर्त स्पन्द है जिसे प्रतीकात्मक  
रूप में नटराज का नर्तन माना गया है।

उपनिषद् में यह स्पष्ट रूप से कहा गया है  
कि आत्मानुभव (मोक्ष) की प्राप्ति करने वाले व्यक्ति  
को “सभी कामनाओं एवं लोकों की प्राप्ति” हो जाती  
है। “वह विशुद्धसत्त्व वाला (आत्मज्ञ) मन में जिन  
जिन लोकों की कल्पना करता है और जिन जिन  
भोगों की कामना करता है, उन सभी को प्राप्त  
करता है”। उपनिषद् में तो इसे ज्ञानमार्ग की भाषा  
में कहा गया है। किन्तु गीता में तो भक्ति की भाषा  
का प्रचुर उपयोग हुआ है। गीता में भक्ति की भाषा  
में इसी बात को इस प्रकार कहा गया है कि जो  
भगवान की अनन्य भाव से भक्ति करता है, उसके  
योग-क्षेम का वहन भगवान करते हैं। जागतिक  
जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति को योग-क्षेम  
कहते हैं। आवश्यकताओं की आपूर्ति (Provision)  
योग है (‘जुटाना’, ‘जुगाड़’ करना) तथा उनकी  
सुरक्षा (Security) क्षेम है। ‘योग-क्षेम’ का सम्बन्ध  
भौतिक वस्तुओं की प्राप्ति से है, और भगवान अपने  
अनन्य भक्त के योगक्षेम का प्रबन्ध स्वयं करते हैं।  
इसका अर्थ हुआ कि भगवान की ओर जाने वाले  
मार्ग में भौतिक वस्तुओं की प्राप्ति (योग-क्षेम)  
समाहित है; भौतिक वस्तुओं की प्राप्ति का भगवान  
की ओर से कोई विरोध नहीं है, बल्कि उसके प्रति  
अनुकूलता ही है।

गीता में भगवान ने भक्तों की जो चार  
कोटियाँ बताई हैं उससे भी उपर्युक्त बात की पुष्टि  
होती है। भगवान ने कहा है— मेरे चार प्रकार के  
भक्त हैं :— आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी एवं ज्ञानी। इन  
चारों के अर्थ का विश्लेषण करें तो यह स्पष्ट होते  
देर नहीं लगेगी कि भक्तों की श्रेणी का यह  
विभाजन वस्तुतः चार पुरुषार्थों— अर्थ, धर्म, काम

एवं मोक्ष के आधार पर किया गया है। आर्त वह है  
जो जीवन के लिए आवश्यक आवश्यकताओं —  
यथा खाना-पीना आदि— के नितान्त अभाव से  
पीड़ित है, दरिद्र है। उसे अर्थ चाहिए। अर्थार्थी वह  
है जो आर्त तो नहीं है क्योंकि वह दरिद्र नहीं है,  
किन्तु उसकी इच्छाओं (कामनाओं) की पूर्ति नहीं  
हुई है, अतः उसका पुरुषार्थ काम है। जिज्ञासु का  
अर्थ है जो उचित अनुचित के विषय में जानना  
चाहता है। सबसे अधिक जिज्ञासा नैतिकता (धर्म)  
के प्रश्न पर ही होती है क्योंकि हम यह आसानी से  
नहीं जान पाते कि क्या उचित और क्या अनुचित है  
अर्थात् क्या पुण्य और क्या पाप है। धर्माधर्म जानने  
की इच्छा जिज्ञासा है, अतः जिज्ञासु का पुरुषार्थ  
धर्म है। ज्ञानी भक्त अपने स्वरूप (आत्मा) का ज्ञान  
प्राप्त करना चाहता है इसलिए उसका पुरुषार्थ मोक्ष  
है। चूँकि मोक्ष परम पुरुषार्थ है और उसमें अपने  
स्वरूप— परमात्मा— की प्राप्ति होती है, अतः  
भगवान ने उस पुरुषार्थ वाले को सर्वोत्तम माना और  
कहा कि ज्ञानी को मेरी आत्मा ही समझना चाहिए  
(ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्)।

पुरुषार्थों के आधार पर भक्तों के इस वर्गीकरण  
के कथन में एक बात ध्यान देने योग्य है। वह यह  
कि भगवान ने ज्ञानी को सर्वोत्तम माना, किन्तु बाकी  
तीनों को भी अच्छा कहा (उदाराः सर्व एवतै.....)।  
तात्पर्य यह कि अर्थ चाहने वाला ‘आर्त’ और काम  
चाहने वाला ‘अर्थार्थी’ भक्त भी आदरणीय है। तर्क  
से भी यह बात ठीक ही बैठती है। भगवान से  
भौतिक वस्तुएँ माँगने वाला भक्त (आर्त एवं अर्थार्थी)  
आखिर बुरा क्यों कहा जाएगा? भूखा बालक यदि  
अपनी माँ से भोजन माँगता है तो इसमें बुराई क्या  
है? हाँ, यह अलग बात है कि बालक को भी चाहिए  
कि वह केवल माँगे ही नहीं, वरन् माँ के कहने पर  
चले भी। यदि बालक माँ के विपरीत चलता है और



फिर भी माँगता है तो उसका माँगना अनुचित कहा जा सकता है। किन्तु यदि बालक पूर्ण आज्ञाकारी है तो उसका माँगना बिलकुल उचित है और उसे भोजन देना माँ का भी कर्तव्य है। उसी प्रकार यदि भक्त पूर्णरूप से भगवान का अनुयायी है तो उसका भगवान से अर्थ और काम माँगना ठीक ही है; भगवान की ओर से भी उसे अर्थ और काम प्रदान करना ठीक ही है, भगवान को ऐसा करना चाहिए ही। इसीलिए भगवान ने गीता में कहा कि जो अनन्य भाव से मेरा चिन्तन करता है ('अनन्याश्चिन्तयन्तो माम्.....') और हमेशा मुझसे जुड़ा हुआ है ('नित्ययुक्ता', नित्याभियुक्तानाम्'), अर्थात् जो हमेशा हमारे अनुसार चलता है, उसका योगक्षेम मैं वहन करता हूँ। ऐसा कह सकते हैं कि मानों जीव एवं भगवान के बीच यह समझौता (Agreement) है कि जीव भगवान के अनुसार चलेगा और भगवान जीव की सारी आवश्यकताओं को पूरा करेगा। भगवान तो अपना वादा पूर्णरूप से निभाता है, किन्तु जीव ही वादाखिलाफी कर जाता है जिससे वह कष्ट पाता है। कबीर ने इसी बात को बड़े सरल ढंग से कहा है कि "भगवान तो राजा है, उसके दरबार में किसी चीज की कमी नहीं है, फिर भी उसका बन्दा सुख नहीं पाता है, इसका कारण यह है कि बन्दे की चाकरी में चूक है" (साहिब के दरबार में, कमी काहु की नाहिं। बन्दा मौज न पावई, चूक चाकरी माँहि।।)। बन्दे की चाकरी में चूक हो यह बुरी बात है, किन्तु चूक न होने पर बन्दे का माँगना भी सही है और भगवान का देना भी सही है। हाँ, यह अवश्य सत्य है कि कभी कभी (और ज्यादातर) हमारी चाकरी में चूक होते हुए भी हम समझते हैं कि चूक नहीं है और अनापूर्ति के लिए भगवान को उलाहना देते रहते हैं। अपने ही द्वारा निर्मित अहंकार के पर्दे के कारण हम देख ही नहीं

पाते कि हममें क्या चूक है। अस्तु, शास्त्रों ने चाकरी में चूक होने को ही बुरा कहा है, भौतिक वस्तुओं की माँग करने एवं उनकी प्राप्ति करने को बुरा नहीं कहा है। तभी तो वेद की ऋचाएँ भौतिक वस्तुओं की प्राप्ति के लिए प्रार्थना से भरी पड़ी हैं।

### III-भौतिक परिपूर्णता देने वाले आध्यात्मिक मार्ग का स्वरूप :

ऊपर जो चर्चा हुई उसमें दिखलाया गया कि आध्यात्मिक प्राप्ति होने पर भौतिक परिपूर्णता की भी प्राप्ति होती है क्योंकि भौतिक प्राप्ति की शक्ति आत्मा (परम आत्मा) से ही आती है। ज्ञानमार्ग की भाषा में इस बात को इस प्रकार कहा गया है कि हम अपने वास्तविक स्वरूप परम आत्मा (Higher Self) की प्राप्ति करते हैं (जिसे मोक्ष या आत्मप्राप्ति कहते हैं) तो भौतिक परिपूर्णता भी आती है क्योंकि भौतिकता भी आत्मशक्ति (चित्शक्ति) की ही स्वतन्त्र अभिव्यक्ति (Manifestation) है। इसी बात को भक्तिमार्ग की भाषा में इस प्रकार कहा गया कि जब हम भगवान की भक्ति करते हैं अर्थात् भगवान के रास्ते पर चलते हैं तो भगवान हमारी आवश्यकताओं एवं कामनाओं की पूर्ति करता है। अब प्रश्न यह उठता है कि आत्मप्राप्ति का क्या उपाय है। भक्ति की भाषा में पूछें कि भगवान की भक्ति करने का या भगवान के रास्ते पर चलने का क्या अर्थ है। दूसरे शब्दों में, प्रश्न यह है कि आध्यात्मिक मार्ग (चाहे उसे ज्ञान कहिए या भक्ति कहिए) का क्या वास्तविक स्वरूप है, हमें उसमें क्या करना चाहिए?

आध्यात्मिक मार्ग का क्या स्वरूप है इसका स्पष्टीकरण भारतीय परम्परा में अच्छी तरह दिया गया है। गीता में भी उसे पूरे तौर पर कहा गया है। आध्यात्मिक मार्ग की विशद व्याख्या के लिए अलग लेख की नहीं वरन् पूरी पुस्तक की आवश्यकता

होगी। तथापि आध्यात्मिक मार्ग के स्वरूप का अति संक्षेप में सारतत्त्व के रूप में यहाँ उल्लेख कर देना समीचीन लगता है। हम इसका उल्लेख भक्तिमार्ग की दृष्टि से (विशेषतः गीता के संदर्भ में) करेंगे; वही बात ज्ञान-मार्ग पर भी लागू होगी, क्योंकि दोनों मार्गों का कथ्य एक ही है, वे केवल अलग अलग भाषाओं का प्रयोग करते हैं। भक्तिमार्ग का भगवान ही ज्ञानमार्ग का आत्मा (Self) है; हाँ, वह परम आत्मा (Higher Self) है जो जीवात्मा (Lower Self) से स्वरूपतः (तत्त्वतः) एक होते हुए भी कार्यतः भिन्न है। इसीलिए 'परमात्मा' (Higher Self) 'भगवान' का पर्यायवाची शब्द है।

गीता में भक्ति का वास्तविक अर्थ काफी स्पष्ट हो गया है; साथ ही वह पूर्णतया तर्कसंगत है। प्रथम दृष्ट्या भक्ति का अर्थ होगा भगवान के प्रति समर्पण। भगवान के प्रति समर्पण का तर्कसंगत अर्थ यही होगा कि भगवान हमें जैसा बनाना चाहता है वैसा बनें और जैसा कराना चाहता है वैसा करें। अर्थात् 'रहनी' (Being) और 'करनी' (Doing) दोनों क्षेत्रों में हम भगवान के अनुकूल हों। अब देखा जाए कि भगवान के अनुकूल चलने में क्या क्या बातें आती हैं अथवा अनुकूलता को किन किन रूपों में समझा जा सकता है।

पहली बात यह कि भगवान कोई तानाशाह (Dictator) नहीं है। वह हमसे वही कराना चाहता है जो सत्य है, उचित है। भगवान के प्रति समर्पण करना इसलिए ठीक है क्योंकि भगवान सत्यस्वरूप है। सत्य का अर्थ है जो उचित हो, भला हो, शुभ हो। इसीलिए उसे 'शिव' (मंगलमय) कहा गया है, जो नैतिक दृष्टि से भी परम शुभ है। भगवान के प्रति समर्पण करने का अर्थ है सत्य के प्रति समर्पण करना। चूँकि भगवान सत्यरूप है इसलिए वह हमें सत्य रास्ते पर ही चलाना चाहता है। अतः भगवान

के प्रति समर्पण का (भगवान के अनुकूल चलने का) प्रमुख अर्थ है सत्यमार्ग पर चलना। (सत्यमार्ग क्या है और उसका कैसे हमको स्पष्ट ज्ञान हो यह अलग प्रश्न है, जिसका विवेचन यहाँ संभव नहीं है।)

दूसरी बात यह कि भगवान हमसे यह अपेक्षा करेगा कि हम भला बनें। सत्यमार्ग पर चलने वाली बात को ही दूसरी भाषा में कहा जा सकता है कि हम भला बनें। भला बनने की बात को भी पुनः दूसरी भाषा में कहा जा सकता है कि हमारा हृदय शुद्ध हो। अतः भगवान की भक्ति (समर्पण) का यह भी अर्थ होगा कि हम भला बनें, हमारा हृदय शुद्ध हो।

तीसरी बात यह कि भगवान के प्रति समर्पण का अर्थ यह नहीं होगा कि हम निष्क्रिय बैठ जाएँ। समर्पण का तो सीधा अर्थ यह होगा कि भगवान जिस काम को मना करें वह न करें, किन्तु जिस काम को करने को कहे वह अवश्य करें। यही तो भगवान की 'चाकरी' है। भगवान ने यह सृष्टि-चक्र चलाया है और प्रत्येक व्यक्ति को उसका कर्तव्य कर्म सौंपा है। उस कर्तव्य कर्म को करना भगवान की भक्ति होगी। गीता में भगवान ने स्पष्ट कहा है—“हमने जो यह सृष्टि-चक्र चलाया है उसका जो अनुवर्तन नहीं करता वह केवल इन्द्रियारामी पापायु है, वह व्यर्थ ही जीता है”। तात्पर्य यह कि परमात्मा का निमित्त बनकर परमात्मा द्वारा निर्धारित कर्तव्य कर्म करना (अर्थात् कर्मयोग) भी भक्ति है।

चौथी बात यह कि भगवान के ही तो सब बन्दे हैं, कोई ऐसा प्राणी नहीं जो भगवान का न हो। अतः भगवान हमसे यह भी अपेक्षा करेगा कि हम भगवान के सभी बन्दों को प्यार करें, उनकी भलाई करें, उनका अहित न करें। किसी व्यक्ति की हम



भक्ति करें और उसके बच्चों का अहित करें तो यह आत्मविरोधी बात होगी। बच्चों को प्यार करने से उनके माँ बाप हम पर प्रसन्न होंगे। अतः यह भी तर्कसंगत बात है कि भगवान के प्रति समर्पण का यह अर्थ होगा कि भगवान के बन्दों का हित चाहा जाए। इसीलिए कहा गया है कि नर की सेवा नारायण की सेवा है, अथवा मानव की सेवा 'माधव' की सेवा है। तात्पर्य यह कि मैत्रीभावना या विश्वप्रेम भी भक्ति ही है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भक्ति के अर्थ का विश्लेषण करने पर तर्कसंगत (rational) रूप में यह निकलता है कि सत्य मार्ग पर चलना भक्ति है, भला बनना या हृदय शुद्धि करना भक्ति है, कर्तव्य कर्म करना भक्ति है, सबको प्यार करना और उनकी सेवा करना भक्ति है। यही बातें ज्ञानयोग में ज्ञान के अर्थ में भी लागू होती हैं। अपने वास्तविक स्वरूप (आत्मा) को प्राप्त करना ज्ञान योग है। आत्मा के ऊपर मलावरण पड़ा हुआ है जिसकी सफाई होने पर ही आत्म-स्वरूप की प्राप्ति होगी। अतः आत्मशुद्धि या हृदय-शुद्धि करना ज्ञानयोग है। चूँकि सत्यमार्ग पर चलना, भला बनना और हृदयशुद्धि करना — तीनों का अर्थ एक ही है, अतः ये तीनों ही ज्ञानयोग के भीतर हैं।

अहंकार (ego) आत्मस्वरूप की प्राप्ति में सबसे बड़ा बाधक है, अतः अहंकार का समर्पण करना अर्थात् अहंकार को शांत करना या गलाना ज्ञानयोग है। अहंकार के समर्पण के साथ संकल्प (will) का समर्पण भी होता है। दोनों समर्पण एक दूसरे के पूरक हैं। किन्तु यह नहीं समझना चाहिए कि अहंकार और संकल्प के समर्पण से हम निष्क्रिय हो जाते हैं। उनके समर्पण होने पर स्वाभाविकी क्रिया स्वतःस्फूर्त रूप में फूटती है क्योंकि स्पन्दरूपा स्वाभाविकी क्रिया आत्मा का स्वरूप है। अहंकार तो

बल्कि उसमें बाधक है, अतः अहंकार के गलने पर वह क्रिया निर्मुक्त (released) हो कर फूटती है। ऐसी अवस्था में हम संकल्प से कुछ नहीं करते हैं और सब कुछ विना प्रयास स्वतःस्फूर्त (spontaneous) रूप में अपने आप हमारे माध्यम से होता है। यह विश्रान्त क्रिया (actionless activity) की अवस्था है। इसे ही सहज समाधि की अवस्था कहते हैं। इस स्थिति में हमारे सारे कर्तव्य कर्म स्वाभाविक रूप से अपने आप हमारे द्वारा होते रहते हैं। अतः स्वाभाविकी क्रिया भी ज्ञानयोग है। जो कर्मयोग का कर्तव्य कर्म है, वही ज्ञानयोग की स्वाभाविकी क्रिया है।

ज्ञानयोग की सबसे महत्त्वपूर्ण साधना है अद्वैत-भाव या अभेद-बुद्धि जिसका अर्थ है सबको अपना समझना और सबका कल्याण चाहना, अर्थात् विश्वप्रेम। अद्वैत-भाव को ज्ञान इसलिए कहते हैं कि यही सत्य है कि सब हमारे ही हैं किन्तु अज्ञानवश हम यह सत्य भूल गए हैं और उन्हें पराया समझ बैठे हैं, जिसे द्वैतभाव कहते हैं। ज्ञान-साधना में हम पुनः सबको अपने में देखते हैं और अपने को सबमें देखते हैं और अभेद-बुद्धि को प्राप्त करते हैं। जब हम इस सत्य का अनुभव करेंगे कि सभी अपने ही हैं (अद्वैत-भाव "सर्व भूतात्म भूतात्मा") तो स्वाभाविक है कि हम सबका हित चाहेंगे ("सर्वभूतहिते रताः")। इस प्रकार भक्तियोग एवं ज्ञानयोग दोनों ही दृष्टियों से विश्वप्रेम उनके तर्कसंगत अर्थ के रूप में उत्पन्न होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि साधना की दृष्टि से भक्तियोग और ज्ञानयोग दोनों एक ही हैं, क्योंकि दोनों में ही साधक को जो करना है वह समान है। दोनों मार्ग केवल अलग अलग भाषा का प्रयोग करते हैं। ●



# जीवन मूल्य एवं शिक्षक

डॉ० कल्पलता पाण्डेय

हम जानते हैं कि शिक्षा ही वह सशक्त माध्यम है जिसके द्वारा व्यक्ति के अन्दर मूल्यों को संवर्द्धित किया जा सकता है। विज्ञान यदि व्यक्ति को तथ्य परक ज्ञान प्राप्ति कराके बुद्धिमान बनाता है तो मूल्य शिक्षा व्यक्ति को सही अर्थों में मनुष्य बनाने का कार्य करती है। प्रश्न उठता है कि मूल्य क्या है? मूल्य एक विश्वास है जिस पर व्यक्ति प्राथमिकताओं के आधार पर क्रिया करता है। मूल्य व्यक्ति के जीवन के वे निर्देशक सिद्धान्त हैं जिन पर चल कर व्यक्ति अपने जीवन की दशा एवं दिशा निर्धारित करता है। मूल्य ही वह विभाजक रेखा है जो कि जीवन के आधारभूत क्रिया कलापों, व्यवहारों, आचरणों को निर्धारित करती है। वेदों के समय से ही भारतीय मूल्य धर्म एवं कर्म के रूप में संरक्षित है। इसी धर्म एवं कर्म की अवधारणा में पुरुषार्थ चतुष्टय—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के रूप में लौकिक एवं पारलौकिक मूल्यों से युक्त भारतीय नागरिक की कल्पना की गयी है। श्रीमद्भगवद्गीता में २६ विशेषताओं से युक्त व्यक्ति को व्यक्तित्व की दृष्टि से सम्पूर्ण माना गया है। इनमें से कुछ विशेषताएँ हैं— अभय, सत्त्वसंशुद्धि, ज्ञानयोग व्यवस्थिति, दान, दम, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, आर्जव, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, क्षमा, धृति, तेज आदि। भगवद्गीता में उपर्युक्त मूल्यों को सम्पूर्ण व्यक्तित्व निर्माण की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण माना गया है। इसी प्रकार वेदों, पुराणों, स्मृतियों एवं विभिन्न दर्शनों यथा— जैन, बौद्ध आदि में भी सत्कर्म को मनुष्य के लिए सबसे अधिक मूल्यवान मानते हुए सात्विक बुद्धि युक्त व्यक्ति को सर्वश्रेष्ठ मनुष्य की संज्ञा दी गयी है। यदि वृहद् रूप में मूल्यों को देखा जाय तो

समस्त मूल्यों को दो मुख्य श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है। पहली श्रेणी है— आन्तरिक निरपेक्ष मूल्यों की जो हमें अपने स्व से ऊपर उठाकर परोपकार के लिए प्रेरित करते हैं। दूसरी श्रेणी के अन्तर्गत वे मूल्य आते हैं जो सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक संदर्भों के सापेक्ष होते हैं।

इस प्रकार यदि हम भारतीय संदर्भ में मूल्यों का वर्गीकरण करें तो आन्तरिक एवं सहायक मूल्य, धनात्मक एवं ऋणात्मक मूल्य, उच्च एवं निम्न मूल्य, स्थायी एवं अस्थायी मूल्य ऐसे कई वर्गीकरण प्राप्त हो जाते हैं। इन सभी वर्गीकरणों को भी यदि आधार बनाकर देखें तो सार रूप में यह कहा जा सकता है कि मूल्य ऐसे सिद्धान्त एवं अपेक्षित गुण हैं जिनको आधार बनाकर व्यक्तियों को इस प्रकार से शिक्षित किया जा सकता है कि वे कुछ निश्चित मानकों के अनुरूप अपने जीवन की संरचना करने योग्य बन सकें। इन सदगुणों अथवा मूल्यों को विद्यार्थियों में अन्तर्निवेश करने का गुरुतर कार्य शिक्षा करती है और शिक्षा जिस अमोघ अस्त्र का प्रयोग इस कार्य हेतु करती है, वह है शिक्षक। अतः मनुष्य निर्माण की प्रक्रिया में मूल्य, शिक्षा, शिक्षक और जीवन शैली ये चारों एक दूसरे के पर्याय की तरह कार्य करते हैं। जब तक इन चारों महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं में सामंजस्य स्थापित नहीं होता है तब तक सदगुण युक्त मनुष्य का निर्माण सम्भव नहीं हो सकता। इन चारों में सर्वाधिक जीवन्त एवं महत्त्वपूर्ण है शिक्षक क्योंकि वही मूल्य; शिक्षा और जीवन तीनों घटकों में अपने जादुई स्पर्श से सामंजस्य उत्पन्न कर सकता है। ऐसा नहीं कि शिक्षक के लिए यह कार्य बहुत दुरूह है। यदि प्राचीन भारतीय

गुरु को स्मरण करें तो ऐसे दृष्टान्तों से भारतीय ग्रन्थ भरे हैं जहाँ अत्यन्त सहजता से गुरु औपचारिक, अनौपचारिक एवं निरौपचारिक शिक्षा के द्वारा विद्यार्थियों को इस प्रकार शिक्षित करता था कि जब वे गुरुकुल या शिक्षालयों से शिक्षा प्राप्त करके वृहत् समाज में प्रविष्ट होते थे तो उनके जीवन में मूल्य अर्थात् धर्म प्रधान आचरण सदगुण के रूप में इस प्रकार गुथे होते थे कि उन्हें अलग नहीं किया जा सकता था। धर्म प्राण नागरिकों के निर्माण के कारण ही गुरु समाज अथवा सत्ता की दृष्टि में अत्यन्त सम्मानित था। यह कार्य गुरु के लिए इसलिए भी दुरुह नहीं था क्योंकि उसका धर्मासिक्त व्यक्तित्व ही विद्यार्थियों के लिए भूमिका प्रतिमान के रूप में एक उदाहरण था।

वर्तमान में जो सबसे बड़ा संकट दिखाई देता है वह है उपर्युक्त चारों बिन्दुओं में सामंजस्य का सर्वथा अभाव। मूल्य, शिक्षा, शिक्षक और जीवन शैली इनमें से जो सर्वाधिक जीवन्त अध्यापक है वह स्वयं ही धर्म से दीप्त नहीं है, बुझा हुआ है, किंकर्तव्यविमूढ़ है तथा अपने दायित्व के प्रति अपेक्षित बोध से शून्य है। वह स्वयं ही कर्तव्य को सर्वोपरि मूल्य नहीं मान रहा है तो वह अपने विद्यार्थियों के लिए कर्तव्य अथवा दायित्व बोध के महत्त्व के प्रति आकर्षण कैसे उत्पन्न कर सकता है? वर्तमान समाज में जो मूल्यों का क्षरण, अराजकता आदि की स्थिति चारों ओर दिखाई पड़ती है उसमें बहुत बड़ी भूमिका अध्यापक के अपने मूल्य आधारित समाज निर्माण के दायित्व से विरत हो जाने की भी है। माता-पिता और अध्यापक तीनों ही बालक में संस्कारों सदगुणों एवं मूल्य आधारित जीवन शैली की आधार भूमि तैयार करते हैं। दुर्भाग्य से इन तीनों ने भारतीय संस्कृति एवं परम्परा द्वारा निर्धारित दायित्वों एवं कर्तव्यों के निर्वहन में अपेक्षित ईमानदारी प्रदर्शित

नहीं की है जिसका परिणाम है कि भारतीय समाज की कार्यप्रणाली नितान्त अभागी होती जा रही है। अतः यदि विद्यार्थियों में सदगुणों को विकसित करके उन्हें श्रेष्ठ भारतीय नागरिक बनाना है तो अध्यापक को पुनः अपनी हजारों वर्ष पुरानी भूमिका में पूरी जीवन्तता के साथ लौटना होगा। उसे पुनः भूमिका प्रतिमान के रूप में मूल्य आधारित जीवन शैली अपनानी होगी। उसे भीड़ में न खोकर भीड़ को निर्देशित करने के लिए उससे अलग होकर मार्गदर्शक की भूमिका निभानी होगी। उसे सामान्य जन की भांति दोषों से युक्त आचरण न करके उनसे अलग अपनी एक विशिष्ट पहचान बनानी होगी जिससे समाज उसे पुनः राष्ट्र निर्माता की भूमिका में स्वीकार कर सके। यहाँ प्रश्न उठता है कि वर्तमान शैक्षिक अर्थ प्रधान परिदृश्य में यह सम्भव कैसे होगा? इसे काल सापेक्ष परिवर्तनों के साथ सम्भव बनाने के लिए शिक्षक प्रशिक्षण संस्थानों को तथा इन्हें नियंत्रित करने वाले प्रतिष्ठानों यथा-राष्ट्रीय अध्यापक शिक्षा परिषद् को सर्वप्रथम पूरी निष्ठा के साथ इस परम पवित्र राष्ट्र निर्माण यज्ञ के यजमान की भूमिका में सामने आना होगा। वर्तमान में जीवन मूल्यों के अन्तर्निवेशन, संवर्द्धन एवं संरक्षण की दृष्टि से इनकी स्थिति किसी से भी छिपी नहीं है। इस समय अध्यापक प्रशिक्षण अर्थादोहन की दृष्टि से सबसे आकर्षक व्यवसाय के रूप में उभरा है। समाज के तथाकथित बुद्धिजीवी समाज सेवकों द्वारा अध्यापकों को प्रशिक्षित करने की दिशा में प्रदर्शित अदम्य उत्साह का यह परिणाम हुआ है कि अध्यापक जिस स्थिति में आज से दो दशक पूर्व था, मूल्य आधारित जीवन शैली के संदर्भ में उससे बहुत नीचे आ गया है। तथा भूमिका प्रतिमान बनने का उसका समाज द्वारा अपेक्षित एवं निर्धारित दायित्व बहुत पीछे कहीं छूट गया है।



वर्तमान में शिक्षक-प्रशिक्षण को ऐसी स्थिति से बाहर आना होगा। इसे इस योग्य बनाना होगा जिससे शिक्षक-प्रशिक्षण के उपरान्त जो अध्यापक समाज में जायें वे कम से कम समाज को सही दिशा में मार्गदर्शन की योग्यता रखते हों। यद्यपि सरकार द्वारा ऐसे शिक्षक-प्रशिक्षण संस्थानों पर लगाम कसी जा रही है तथापि शिक्षक-प्रशिक्षकों को भी अपनी भूमिका निर्धारित करनी होगी कि क्या वे ऐसे संस्थानों को मान्यता देने की संस्तुति करेंगे जो मानक पर खरे न उतरते हों। क्योंकि विश्वविद्यालयों द्वारा जो दल मानक परीक्षण हेतु भेजे जाते हैं उसमें शिक्षक-प्रशिक्षण ही मुख्य भूमिकाओं में रहते हैं। अतः इन तथा कथित शिक्षक-प्रशिक्षण संस्थानों की बाढ़ के लिए प्रत्यक्षतः अथवा परोक्षतः वे शिक्षक-प्रशिक्षण भी उत्तरदायी हैं जो थोड़े से धन के कारण शिक्षक परिवार में ऐसे लोगों को प्रविष्ट होने की भूमि तैयार करते हैं जिनकी जीवन शैली शिक्षक के लिए अपेक्षित जीवन शैली के अनुरूप नहीं बन पाती है। ऐसी स्थिति में आवश्यकता है कि शिक्षक-प्रशिक्षण संस्थानों में संज्ञानात्मक, भावात्मक एवं कौशल जनित गुणवत्ता संवर्द्धन के लिए विशेष प्रयास किये जायें। इन प्रयासों के अन्तर्गत शिक्षक-प्रशिक्षण संस्थानों को गुणवत्ता के आधार पर मान्यता प्रदान करना, शिक्षक-प्रशिक्षण के पाठ्यक्रम में अध्यापक हेतु निर्धारित जीवन मूल्यों के अन्तर्निवेशन की व्यवस्था सुनिश्चित करना, संज्ञानात्मक व्यवहार परिवर्तन के साथ-साथ अभिवृत्त्यात्मक व्यवहार परिवर्तन पर विशेष बल, शिक्षक-प्रशिक्षण के प्रायोगिक पक्षों पर विशेष बल एवं अभ्यास शिक्षण में प्रशिक्षु की अपने विद्यार्थियों के मूल्य अन्तर्निवेशन के आधार पर मूल्यांकन की व्यवस्था आदि कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण सुझाव हैं जिनके अनुपालन से अध्यापक में मूल्यों,

विशेष रूप से मूल्य आधारित जीवन शैली का अन्तर्निवेशन किया जा सकता है।

अन्ततः यह कहा जा सकता है कि वस्तुतः अध्यापक एवं मूल्य दोनों में अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। अध्यापक तभी आदरणीय होगा जब उसके व्यक्तित्व एवं सदगुणों से एक विशिष्ट जीवन शैली की सुगन्ध फैले। अतः शिक्षक प्रशिक्षण में मुख्य बल इसी मूल्य आधारित जीवन शैली एवं व्यक्तित्व निर्माण पर दिया जाना आवश्यक है। जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, अध्यापक की भूमिका इस दृष्टि से राष्ट्र निर्माण की है क्योंकि वही राष्ट्र को प्रबुद्ध एवं राष्ट्रभक्त नागरिक देने में सक्षम है। वह इस भूमिका का तभी कुशलता से निर्वहन कर सकता है जब वह स्वयं इन सदगुणों से युक्त हो। अतः सुसंस्कृत, मूल्य आधारित राष्ट्र के निर्माण के लिए यह आवश्यक है कि शिक्षक, स्वयं अपने लिए निर्धारित दायित्वों के वहन की पात्रता यथाशीघ्र प्राप्त कर ले। •

हम वस्तुतः शिक्षित हैं कि नहीं, इसका निर्णय मात्र हमारे डिग्री, डिप्लोमा नहीं कर सकते। इसका निर्णय करने के लिए हमें सर्वप्रथम शिक्षा के अर्थ, स्वरूप एवं उद्देश्य को समझना होगा। यदि हमारी शिक्षा इस कसौटी पर सही उतरती है तो हम शिक्षित कहे जा सकते हैं अन्यथा तो हम तथाकथित शिक्षित होकर भी अशिक्षित ही हैं।



## धर्म, धर्मनिरपेक्षता और सर्वधर्मसमभाव

प्रो० अवधेश प्रधान

बीसवीं सदी के अंतिम दो दशकों में धर्मनिरपेक्षता की अवधारणा को लेकर भारत में राजनीति से लेकर अकादमिक क्षेत्र तक एक बार फिर विचारों का मंथन तीव्र हुआ है। भारतीय राजनीति में हिन्दुत्व के उभार, बाबरी मस्जिद के विध्वंस और केन्द्र में भाजपानीत सरकार की नीतियों और गतिविधियों ने इसे और आवेग प्रदान किया है। सोवियत संघ के विघटन और सोवियत सहित पूर्वी यूरोप में समाजवादी सरकारों के पतन की पृष्ठभूमि में हिन्दुत्ववादियों ने समाजवादी विचारधारा पर हल्ला बोलने के लिए इस परिस्थिति का भरपूर उपयोग किया और 'हिन्दू राष्ट्र' की अवधारणा को परवान चढ़ाने के लिए भारतीय संविधान की धर्मनिरपेक्ष दृष्टि के विरुद्ध सुनियोजित वैचारिक युद्ध छेड़ दिया। उनका खुला आरोप है कि भारतीय संविधान द्वारा स्वीकृत धर्मनिरपेक्षता 'छद्म धर्मनिरपेक्षता' है, क्योंकि यह धार्मिक अल्पसंख्यकों के हितों के संरक्षण के नाम पर धार्मिक अल्पसंख्यकों का (खासतौर पर मुसलमानों का) 'तुष्टीकरण' करती है और इससे बहुसंख्यक हिन्दू समुदाय के प्रति अन्याय होता है। जाहिर है कि इस विचार की परिणति इसी आक्रामक दिशा में हो सकती है कि हिन्दू इस 'अन्याय' के विरुद्ध उठ खड़े हों और ऐसे 'राष्ट्र' की स्थापना करें जो केवल हिन्दुओं का हो और जिसमें अन्य धार्मिक अल्पसंख्यक उनके अधीन रहने को बाध्य हों। हमने हाल ही में देखा कि इस विचार की आक्रामकता, बौद्धिक बहस तक सीमित नहीं रही वरन् उसने उड़ीसा में ईसाई पादरी को बच्चों समेत जिन्दा जला देने से लेकर गुजरात में भीषण नरसंहार तक का रूप ले लिया। यह बताने की आवश्यकता नहीं कि इस विचार के

प्रवर्तकों और समर्थकों के पास न तो भारत की बहुधर्मी-बहुरूपी परंपरा को समझने लायक इतिहास दृष्टि है, न भारत की सुदीर्घ महनीय सांस्कृतिक परम्परा को आधुनिकता के प्रकाश में निखारने और सँवारने लायक भविष्य दृष्टि। उनमें स्वाधीनता संग्राम और भारतीय नवजागरण की विरासत को भी सहेजने की न चाहत है न योग्यता। राम मंदिर, धारा-३०७ और समान नागरिक संहिता के त्रिसूत्री प्रचार से वे हिन्दू जनता में चाहे जितना भ्रम पैदा कर लें लेकिन धर्मनिरपेक्षता की अवधारणा को लेकर उसमें किसी सार्थक और रचनात्मक विकल्प की आशा करना व्यर्थ है। भाजपानीत सरकार के दौरान उनकी विद्वेष और असहिष्णुता से भरी हुई नीतियों और गतिविधियों की जो भारी कीमत देश ने चुकाई है, उसका यही सबक है। भारत के बहुधर्मी जनगण के लिए उपयुक्त नीतियाँ बनाने और बरतने में उनकी रुचि कभी नहीं रही; हाँ उन्हें बिगाड़ने में वे जरूर सफल हुए हैं।

ठीक इसी दौर में, धर्मनिरपेक्षता की स्थापित अवधारणा की प्रखर आलोचना क्रांतिकारी वामपंथ की ओर से आयी। उनका मानना है कि भारतीय राज्य जिस सर्वधर्म समभाव पर अमल करता है वह सच्ची धर्मनिरपेक्षता नहीं है। जिस प्रकार राज्य द्वारा घोषित किया जाता है कि कानून के आगे सब बराबर हैं लेकिन व्यवहार में कानून संपत्तिशाली वर्गों के साथ और बर्ताव करता है और संपत्तिहीन वर्गों के साथ और, उसी प्रकार सर्वधर्म समभाव घोषणा तो करता है कि राज्य की दृष्टि में सभी धर्म बराबर हैं लेकिन व्यवहार में यह बहुसंख्यक हिन्दू धर्म के पक्ष में झुक जाता है और अन्य धार्मिक अल्पसंख्यकों के साथ दोयम दर्जे का बर्ताव करता

है। वे कुछ ठोस उदाहरण देते हैं— जैसे, हर थाने में मंदिर का होना, खुल्लमखुल्ला कृष्ण जन्माष्टमी का मनाया जाना, सामान्य नेताओं से लेकर मुख्यमंत्री और प्रधानमंत्री तक का शंकराचार्य आदि से आशीर्वाद लेने जाना, शिलान्यास और अनावरण के अवसरों पर नारियल तोड़ा जाना, मंत्रों और श्लोकों का पाठ वगैरह। उसी क्रम में वे रामायण, महाभारत से लेकर तमाम पौराणिक—धार्मिक टी.वी. सीरियलों का भी नाम लेते हैं। वे मानते हैं कि सच्ची धर्मनिरपेक्षता का अर्थ है राज्य का धर्म से पूर्ण विच्छेद। वे धर्मनिरपेक्षता की शुद्ध पश्चिमी अवधारणा की वकालत करते हैं और उसके साथ सर्वधर्मसमभाव जैसी किसी अवधारणा के घालमेल की तीखी आलोचना करते हैं। उनकी दृष्टि में सर्वधर्मसमभावी धर्मनिरपेक्षता वस्तुतः 'साम्प्रदायिक धर्मनिरपेक्षता' या 'धर्मनिरपेक्ष साम्प्रदायिकता' है।

इस प्रकार धर्मनिरपेक्षता को लेकर ये दो वैचारिक छोर उभरते हैं—एक, धुर दक्षिणपंथी कोण से जिससे कोई सार्थक संवाद ही नहीं है; दूसरा, धुर वामपंथी कोण से जिससे संवाद न केवल संभव है वरन आवश्यक भी है क्योंकि वहाँ भारत की बहुधर्मी—बहुरूपी प्रकृति को लेकर एक गंभीर और उत्तरदायित्वपूर्ण रुख की आशा की जा सकती है।

पश्चिम में धर्मनिरपेक्षता की अवधारणा चर्च की निरंकुशशाही के विरुद्ध व्यापक जन असंतोष और विक्षोभ के बीच से पैदा हुई थी। वहाँ चर्च धर्मसत्ता ने सार्वजनिक जीवन के सभी क्षेत्रों पर अपना वर्चस्व जमा लिया था और अंततः उसकी टक्कर राजसत्ता के विभिन्न केन्द्रों से भी ठन गई। इंग्लैण्ड के जॉन वाई क्लिफ, हालैण्ड के इरास्मस, जर्मनी के मार्टिन लूथर और स्विट्जरलैण्ड के जॉन कैल्विन ने चर्च और पोपशाही के विरुद्ध धर्म सुधार का विचार फैलाया जिसके फलस्वरूप बड़े पैमाने

पर धर्म सुधार का आन्दोलन हुआ। भक्ति आन्दोलन और भारतीय नवजागरण के दौर में धर्म सुधार या समाज सुधार के जो विचार और आन्दोलन पैदा हुए वे धार्मिक रूढ़िवाद और कर्मकांडीय ढकोसलों की आलोचना जरूर करते थे लेकिन यहाँ कोई चर्च जैसी निरंकुश धर्मसत्ता नहीं थी। भारत में प्रायः क्षत्रिय राजा और ब्राह्मण मंत्री होते थे, राजा ब्राह्मणों और तपस्वियों के आगे नतमस्तक ही रहता था लेकिन यहाँ यूरोप की तरह कभी राजसत्ता को धर्मसत्ता की निरंकुशता से मुक्ति के लिए संघर्ष की आवश्यकता नहीं पड़ी।

भारत में प्राचीन काल से ही विचारों की स्वतंत्रता रही है इसीलिए राजनीति, काव्यशास्त्र, व्याकरण, आयुर्वेद आदि सभी विषयों में विचारों की विभिन्नता मिलती है। धर्म और दर्शन में किसी एक विचार, मत या सम्प्रदाय को दुराग्रह नहीं रहा। किसी—किसी मत या विश्वास के आग्रह का भी छिटपुट प्रमाण भले मिल जाय लेकिन आमतौर पर यहाँ का वातावरण कट्टरता के अनुकूल नहीं था। वैदिक युग में ऋग्वेद के सूक्तों से लेकर उपनिषदों के गंभीर तत्त्वचिंतन तक विभिन्न विचारों का सहअस्तित्व और उनकी स्वीकार्यता देखने को मिलती है। वेदों में अग्नि, सोम, मरुत्, पर्जन्य, यम, वरुण, इंद्र, उषस् रुद्र, विष्णु, ब्रह्मणस्पति आदि नाना देवताओं की स्तुति की गई है लेकिन वैदिक ऋषि का आरम्भ से ही यह दृढ़ मत था कि परम सत्ता एक है, मननशील मनीषी उसे भिन्न—भिन्न नामों से पुकारते हैं—एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति (ऋग्वेद १/१६४/४६)। बहुत्व के भीतर एकत्व की खोज या एक ही सत्य की बहुत प्रकार से व्याख्या करना—यह चीज वैदिक साहित्य में टेक की तरह बारबार दुहराई गई है। ऋषिभिर्बहुधा गीतम्—उसे ऋषियों ने बहुत प्रकार से गाया है। पृथङ् नरो



बहुधा मीमांसमानाः—यहाँ भी 'बहुधा' विद्यमान है। भारतीय मनीषा में वेद से लेकर विवेकानन्द तक यह 'बहुधापन' एक चारित्रिक विशेषता की तरह लगा हुआ है। अथर्ववेद के पृथिवी सूक्त में उदारमना ऋषि ने मुक्तकंठ से घोषणा की कि यह पृथ्वी एक घर या परिवार की तरह है जहाँ नाना धर्मों को मानने वाले, नाना भाषाएँ बोलनेवाले लोग एक साथ रहते हैं—

जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं  
नानाधर्मणं पृथिवी यथौकसम्

(अथर्ववेद १२/१/४५)

एक साथ रहते हैं, इसका मतलब यह तो नहीं कि एक जैसा सोचें, एक जैसा बोलें, एक जैसा मानें। 'नानात्व' और 'बहुधापन' है इसीलिए किसी चीज को कई तरह से देखने, समझने, बरतने की संभावना भी है। विचारक और तत्त्वदर्शी अपनी-अपनी दृष्टि से एक ही तत्त्व की व्याख्या अनेक प्रकार से करते हैं—सुपर्ण विप्रा कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति। यह आकस्मिक नहीं है कि वैदिक ऋषि का यह 'बहुधापन' महाकवि कालिदास के 'रघुवंशम्' में भी अनुस्यूत है—

बहुधाप्यागमैर्भिन्नाः पन्थानः सिद्धिहेतवः।

त्वय्येव निपतन्त्यौघा जाह्नवीया इवार्णवे॥

(रघुवंशम्, १०/२६)

(जैसे जाह्नवी गंगा के सभी प्रवाह समुद्र में जा मिलते हैं उसी प्रकार भिन्न-भिन्न शास्त्रों द्वारा निर्दिष्ट सिद्धि प्राप्त कराने वाले मार्ग आप ही तक पहुँचते हैं।) शैवों और वैष्णवों के नाना सम्प्रदाय रहते हुए भी यह कहना संभव हुआ—एकात्मने नमस्तुभ्यं हरये च हराय च। वैष्णवानां यथा शंभुः (शिव वैष्णवों में अग्रणी हैं), शिव काशी में मरनेवालों को राम नाम का मंत्र देते हैं, वे पार्वती को राम की कथा सुनाते हैं और राम लंका विजय से पहले शिव

की स्थापना करते हैं जिनका नाम ही है रामेश्वर। तुलसीदास मानस में राम से पहले शिव की कथा कहते हैं, राम से घोषणा करवाते हैं—सिवद्रोही मम दास कहावा, सो नर मोहि सपनेहुं नहीं पावा। शिवमहिम्नस्तोत्र का यह सुचिंतित विचार अत्यंत महत्त्वपूर्ण है—

त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति

प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति च।

रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां

नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव॥

यहाँ पुष्पदंत वेदत्रयी, सांख्य, योग, शैव और वैष्णव आदि प्रस्थानों की प्रभिन्नता और उनमें श्रेष्ठता के दावे को लेकर आपसी होड़ का उल्लेख करते हैं लेकिन वे स्वयं इनमें से किसी एक को श्रेष्ठ और बाकी को उससे हीन घोषित करने के बजाय बताते हैं कि प्रस्थानों के प्रभेद, विचारों की भिन्नता बिलकुल स्वाभाविक है क्योंकि सबकी रुचि एक जैसी नहीं है, रुचिभेद से विचारभेद, प्रस्थान भेद होते हैं लेकिन जैसे भिन्न-भिन्न स्रोतों से निकलकर विभिन्न नदियाँ टेढ़े-मेढ़े या सीधे रास्ते से चलकर अंततः समुद्र में मिल जाती हैं उसी प्रकार भिन्न-भिन्न रुचि के अनुसार टेढ़े-मेढ़े या सीधे रास्ते से जाने वाले लोग अंततः आप ही तक पहुँचते हैं। गीता में कृष्ण ने कहा था—लोग भिन्न-भिन्न मार्गों से चलते हुए मेरी ही ओर आते हैं—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥

ध्यातव्य है कि सर्वधर्मसमन्वय का अपना विश्व प्रसिद्ध संदेश सुनाते हुए शिकागो की विश्वधर्मसभा में विवेकानन्द ने इन्हीं दोनों श्लोकों का उद्धरण दिया था।

समन्वय की यह भावना केवल वैदिक धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों के ही बीच नहीं थी वरन्



अवैदिक धर्मों के भीतर भी क्रियाशील थी। जैन मनीषी सिद्धसेन दिवाकर ने अपनी 'स्यादवाद द्वात्रिंशिका' में उपनिषदों के प्रति अपनी आस्था व्यक्त की है। आठवीं शती में हरिभद्रसूरि ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि न तो मेरा महावीर के प्रति पक्षपात है, न कपिल आदि ऋषियों के प्रति द्वेष है। जिसकी बात युक्ति संगत हो उसी का अनुसरण करना चाहिए—

**पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु।**

**युक्तिमद् वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः॥**

१२ वीं शती के अप्रतिम विद्वान् हेमचंद्राचार्य राजा कुमारपाल के साथ सोमनाथ के मंदिर में गये तो उन्होंने इन शब्दों में स्तुति की—

**भवबीजांकुरजनना रागाद्याः क्षयमुपागता यस्य।**

**ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै॥**

संसाररूपी बीजांकुरों को जन्म देने वाले आदि विकार जिसके भस्म हो गये हैं, मैं उन्हें नमस्कार करता हूँ चाहे वे ब्रह्मा या विष्णु या शिव या तीर्थंकर हों। बुद्ध ने कभी भी यह नहीं कहा कि वे एक नये धर्म का प्रवर्तन कर रहे हैं। उन्होंने अपना उपदेश देते हुए बार-बार कहा कि यही सनातन धर्म है—'एस धम्मो सनंतनो'। अपने मत का भी आग्रह न करके उन्होंने अपना रास्ता आप तय करने का उपदेश दिया—'अत्त दीपो भव'—अपने मार्गदर्शक स्वयं बनो। बुद्ध के अहिंसा और करुणा के संदेश में इतना बल था कि उनके बाद सभी धर्मों और धर्माचारों ने अपने संदेश में अहिंसा और करुणा को शामिल किया। जयदेव ने विष्णु के दस अवतारों की वंदना करते हुए बुद्ध का भी स्मरण किया।

सम्राट् अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रति आस्था रखने के बावजूद अपने धर्म राजादेशों में धर्म के उन नैतिक पहलुओं पर जोर दिया जो विभिन्न धर्मों के मानने वालों के अनुकूल थे, सर्वसामान्य थे, जिनसे

किसी धर्म का विरोध नहीं हो सकता था जैसे जीवदया, माता-पिता की आज्ञा का पालन, बड़ों का आदर, उदारता आदि। उन्होंने सभी धर्मों के बीच समभाव या एकता की दृष्टि से दो बातों पर बल दिया—१. किसी अन्य धर्म की चर्चा करते हुए वाणी पर संयम (वाचि गुती) अर्थात् किसी अन्य धर्म की आलोचना न करना, और २. सभी धर्मों की बातें ध्यान और आदरपूर्वक सुनना (बहुश्रुत) या परिचय प्राप्त करना। विभिन्न धर्मों के बीच कटुता के ये दो बड़े कारण हैं—अन्य धर्मों की असंयत आलोचना और उनसे ठीक-ठीक परिचय न होना। सम्राट् ने बौद्ध धर्म के साथ वैदिक सनातन धर्म, जैन और आजीवक धर्म का भी पूरा-पूरा ध्यान रखा। धर्म की यही अविरोधिता सम्राट् अशोक और सम्राट् अकबर के राज्य के स्थायित्व का मुख्य आधार रही है। महाभारत में अविरोधिता धर्म का नित्य लक्षण है—

**धर्मो यो बाधते धर्मः न स धर्मः कुधर्म तत्।**

**अविरोधि तु यो धर्मः स धर्मः सत्यविक्रमः॥**

किसी धर्म को बाधित करने वाला धर्म, धर्म नहीं है, कुधर्म है। केवल अविरोधी प्रकृति का धर्म ही धर्म है, उसे किसी धर्म का विरोध करने की जरूरत ही नहीं है क्योंकि उसके पास सत्य का बल है।

महाभारत ने धर्म को सीधे लोकहित से जोड़ते हुए कहा कि धर्म प्रजा को धारण करता है इसीलिए वह धर्म है। सम्राट् अशोक ने यही धर्म दृष्टि अपनाते हुए अपने शिलालेख में अंकित कराया—“कर्तव्यमते हि मे सर्वलोकहितं”—सर्वलोक का हित करना ही मेरा परम कर्तव्य है। भारत में लोकहित की इसी कसौटी पर रखकर मानव मात्र के लिए कल्याणकारी नैतिक गुणों के आधार पर धर्म की एक व्यापक अवधारणा सूत्रबद्ध करने का रुझान प्राचीन काल से ही रहता आया है। सत्य,

अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह, पवित्रता, इंद्रिय निग्रह, धैर्य, क्षमा, तप, स्वाध्याय, सेवा, निर्भयता, निर्वैरता, अक्रोध आदि को धर्म के लक्षण के रूप में गिनाया जाता रहा है। धर्म की इस व्यापक अवधारणा में चिंतकों का प्रयत्न रहा है कि मनुष्य के जीवन में ऐहिक और पारमार्थिक लक्ष्यों की पूर्ति हो। इसी क्रम में पुरुषार्थ चतुष्टय की संकल्पना आई जिसमें अर्थ और काम को धर्म और मोक्ष के आदर्शों से जोड़ दिया गया है। कणाद ने अपने वैशेषिक दर्शन में इसे सूत्रबद्ध करते हुए अदभुत तत्त्वदर्शिता का

**‘यतोऽभ्युदय-निःश्रेयस-सिद्धिः**

**स धर्मः’;** धर्म वह है जिससे अभ्युदय अर्थात् लौकिक समृद्धि और निःश्रेयस अर्थात् आध्यात्मिक प्रगति की सिद्धि होती है। ऐसी भौतिक समृद्धि जहाँ आध्यात्मिकता का भी प्रकाश हो। न चरम भोगवाद, न चरम विरक्तिवाद। इस सूत्र का एक रूप और है— यतोऽभ्युदयो निःश्रेयसहेतुः स धर्मः अर्थात् धर्म वह है जिसमें भौतिक समृद्धि आध्यात्मिक प्रगति का आधार बने। यहाँ आध्यात्मिकता को मुख्यता प्रदान करते हुए भौतिक समृद्धि को उसका साधन स्वीकार किया गया है।

भक्तिकाल में धर्म का यह प्रशस्त मार्ग कुछ और उदार हुआ। वैष्णव, शैव, योग, भक्ति, वेदांत, तसव्वुफ की समन्वय भूमि तैयार हुई। जायसी आदि सूफी कवियों ने हिन्दू घरों में सुनाई जाने वाली प्रेम कहानियों को लेकर प्रेम का संदेश दिया, रसखान से लेकर ताज तक जाने कितने मुसलमान कृष्ण भक्ति के रंग में रंग गये। भक्ति की प्रेमसरिता में बाह्याचार और कर्मकांड का जंजाल बह गया। सम्राट् अकबर ने एक हद तक उदार धर्मनीति का आश्रय लेकर अधिकाधिक हिन्दुओं का समर्थन प्राप्त करने का प्रयत्न किया। उसने विभिन्न धर्मों के आचार्यों के बीच खुली चर्चाओं का आयोजन किया।

उसके सुयोग्य वंशज दारा शिकोह ने वेदांत और इस्लाम की समन्वय-साधना की; पचास उपनिषदों का फारसी में अनुवाद किया और हिन्दू एवं मुसलमान रूपी दो समुद्रों के संगम (बज्ज-उल-बहरैन) की परिकल्पना की। यह बिलकुल उचित था क्योंकि स्थापत्य, संगीत, चित्रकला, कारीगरी, सेना से लेकर मंत्रिपरिषदों तक में यह समुद्र संगम की संस्कृति हिलोरें ले रही थी। हिन्दुओं में कुछ मुगल सत्ता के विरोधी थे तो ज्यादातर समर्थक थे, इसी प्रकार शिवाजी की सेना में हिन्दुओं के साथ-साथ मुसलमानों की संख्या भी कम न थी। अंग्रेजी राज से पहले भारत में कभी हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच साम्प्रदायिक दंगा नहीं हुआ। हिन्दुओं और मुसलमानों की मिलीजुली रवायत का उदात्त राजनीतिक रूप १८५७ में व्यक्त हुआ जब दोनों समुदायों के सिपाहियों और देशभक्त सामंतों और किसानों ने मिलकर अंग्रेजी राज के खिलाफ आजादी की पहली लड़ाई लड़ी।

भारतीय नवजागरण के प्रथम नायक राजा राममोहन राय और उनके ब्राह्म समाज ने उपनिषदों का जो संदेश प्रचारित किया उसमें बहुसंख्यक जनता की सगुणोपासना के लिए कोई जगह न थी। स्वामी दयानन्द ने वेदों का शंखनाद किया, मूर्तिपूजा और अवतारवाद सहित सनातन धर्म की तमाम रुढ़ियों के विरुद्ध युद्ध का बिगुल बजा दिया, उनके ‘सत्यार्थ प्रकाश’ में इस्लाम, सिक्ख, ईसाई, यहूदी, पारसी, जैन, बौद्ध आदि धर्मों की बात तो दूर, स्वयं हिन्दू धर्म के अनेक मूर्तिपूजक और अवतार समर्थक सम्प्रदायों के लिए तनिक सहानुभूति नहीं है। उन्होंने इन सभी धर्मों की कटुतम आलोचना की और निन्दनीय पुस्तकों की सूची गिनाई, जिसमें भागवत और रामचरितमानस भी शामिल हैं। उनकी चले तो समूचा संस्कृत का सरस पुराण साहित्य, काव्य और



नाट्य साहित्य और भक्तिकाल का सुविशाल साहित्य भंडार निषिद्ध हो जाय। अकेले रामकृष्ण परमहंस थे जिनके संदेश में हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख, ईसाई, पारसी, यहूदी, जैन, बौद्ध, शैव, वैष्णव, शाक्त, निर्गुण-सगुण, स्त्री-पुरुष, ब्राह्मण-चांडाल सबके लिए सहानुभूति थी; मानव मात्र के लिए आश्वस्ति थी। स्वयं उनका जीवन सर्वधर्मसमन्वय का जीवन्त विग्रह था; उन्होंने स्वयं अपने जीवन में इस्लाम, ईसाईयत, तंत्र, वेदांत, भक्ति-यहाँ तक कि स्त्री-साधना तक के तमाम प्रयोग किये थे और अनुभवसिद्ध सत्य की घोषणा की थी कि सभी धर्म एक ही ईश्वर तक पहुँचने के भिन्न-भिन्न रास्ते हैं। न्यूयार्क में अपने गुरुदेव के बारे में बोलते हुए स्वामी विवेकानन्द ने कहा था, “आधुनिक संसार के लिए श्री रामकृष्ण का संदेश यही है—मतवादों, आचारों, पंथों तथा गिरजाघरों एवं मंदिरों की चिंता न करो। प्रत्येक मनुष्य के भीतर जो सार वस्तु अर्थात् आत्मतत्त्व विद्यमान है, इसकी तुलना में ये सब तुच्छ हैं और मनुष्य के अंदर यह भाव जितना ही अधिक व्यक्त होता है वह उतना ही जगत्कल्याण के लिए सामर्थ्यवान् हो जाता है। प्रथम इसी धर्म-धन का उपार्जन करो, किसी में दोष मत ढूँढो क्योंकि सभी मत, सभी पथ अच्छे हैं।... वे चाहते थे कि तुम अपने भ्रातृस्वरूप समग्र मानव जाति के कल्याण के लिए सर्वस्व त्याग दो। उनकी ऐसी इच्छा भी थी कि भ्रातृप्रेम के विषय में बातचीत बिलकुल न करो वरन् अपने शब्दों को सिद्ध करके दिखाओ। त्याग या प्रत्यक्षानुभूति का समय आ गया है, और इनसे ही तुम जगत् के सभी धर्मों में सामंजस्य देख पाओगे। तब तुम्हें प्रतीत होगा कि आपस में झगड़े की कोई आवश्यकता नहीं है और तभी तुम समग्र मानव जाति की सेवा करने के लिए तैयार हो सकोगे। इस बात को स्पष्ट रूप से दिखा देने के लिए कि सब धर्मों में मूल तत्त्व एक ही है, मेरे गुरुदेव का

अवतार हुआ था।” (विवेकानन्द साहित्य, सप्तम खंड, पृ. २६७-२६८)

१८६३ में शिकागो की विश्व धर्म महासभा में स्वामी विवेकानन्द ने अपने गुरुदेव का यही संदेश प्रसारित किया था। शिकागो के व्याख्यानों में अद्वैत वेदांत की भूमि पर खड़े होकर उन्होंने आत्मा की दिव्यता, जीवन की अखंडता, ईश्वर की एकता (oneness) और सभी धर्मों की समानता की नई व्याख्या की थी। इस धर्म महासभा के अंतिम सत्र में अपने व्याख्यान का उपसंहार करते हुए उन्होंने कहा था, “ईसाई को हिन्दू या बौद्ध नहीं हो जाना चाहिए और न हिन्दू अथवा बौद्ध को ईसाई ही। पर हाँ, प्रत्येक को चाहिए कि वह दूसरे के सारभाव को आत्मसात् करके पुष्टिलाभ करे और अपने वैशिष्ट्य की रक्षा करते हुए अपनी निजी वृद्धि के नियम के अनुसार विकसित हो। इस धर्म-महासभा ने जगत् के समक्ष यदि कुछ प्रदर्शित किया है तो वह यह है : इसने यह सिद्ध कर दिया है कि शुद्धता, पवित्रता और दयाशीलता किसी सम्प्रदाय विशेष की बपौती नहीं है और प्रत्येक धर्म ने श्रेष्ठ एवं उन्नतचरित्र नर-नारियों को जन्म दिया है। अब इन प्रत्यक्ष प्रमाणों के बावजूद यदि कोई ऐसा स्वप्न देखे कि अन्य सारे धर्म नष्ट हो जाएँगे और उसका धर्म ही जीवित रहेगा तो मुझे उस पर अपने अंतर्हृदय से दया आती है और मैं उसे स्पष्ट कहे देता हूँ कि शीघ्र ही सारे प्रतिरोधों के बावजूद प्रत्येक धर्म की पताका पर यह लिखा होगा—‘युद्ध नहीं—सहायता; विनाश नहीं—ग्रहण; मतभेद और कलह नहीं—मिलन और शांति’ (विवेकानन्द साहित्य, प्रथम खंड, पृ. २७)। वैदिक युग से भक्ति आन्दोलन तक भारत की सुदीर्घ धर्म साधना का सर्वोत्तम सार रामकृष्ण — विवेकानन्द के सर्वधर्म समन्वय के संदेश में चरितार्थ हुआ था। महात्मा गांधी की प्रार्थना सभाओं में इसी दृष्टि का उन्मेष हुआ था और उनके द्वारा आजादी



की लड़ाई में उतरने वाले भिन्न-भिन्न धर्मों के माननेवालों में एक नया धर्म-संस्कार पैदा हुआ था। जेलों में रहते हुए कैदी कार्यकर्ताओं और नेताओं ने भारत के विभिन्न धर्मों और धर्मग्रंथों का अध्ययन किया, उनके सर्वनिष्ठ तत्त्वों का मनन किया—इन सब चीजों ने उनके जन-राजनीतिक व्यवहार को प्रभावित किया, वे अधिक से अधिक उदार और पंथ निरपेक्ष हुए और उन्होंने जनता के बीच अंग्रेजीराज की भेदनीति के विरुद्ध सर्वधर्म समभाव और एकता के विचारों का प्रचार किया। स्वाधीनता संग्राम के पूरे दौर में यह विचार राजनीति व्यवहार में पकता रहा और उसका परिपाक तब पूरा हुआ जब स्वाधीनता के बाद भारतीय संविधान में उसे सन्निविष्ट कर लिया गया।

राष्ट्रीय प्रगति के लिए आवश्यक मूल्यों को संविधान में दर्ज भर कर लेने से लक्ष्य पूर्ति नहीं हो जाती और फिर भारत जैसे विशाल देश में—जहाँ आर्थिक और सामाजिक समानता के आदर्श और गरीबी तथा पिछड़ेपन के यथार्थ के बीच चौड़ी खाई मौजूद है—संवैधानिक संकल्पों के वास्तविक रूपांतरण के लिए राज्य की दृढ़ इच्छा शक्ति का संबल आवश्यक है। आजादी से पहले अंग्रेजों की भेदनीति और आजादी के बाद धर्मांध और साम्प्रदायिक शक्तियों की उन्मादपूर्ण कार्रवाइयों के बावजूद हमारे देश के सामान्य लोकजीवन में सर्वधर्म समभाव की परंपराएँ अनेक रूपों में अब भी जीवित हैं। देश विभाजन से लेकर गुजरात के भीषण नरसंहार तक धर्म के नाम पर बहुत खून बहा है, बहुत जानें गई हैं, बहुत जिन्दगियाँ बर्बाद हुई हैं फिर भी हमारे सांस्कृतिक जीवन में मेल—मुहब्बत की धारा प्रवाहमान है। संगीत के सिंहासन पर रविशंकर, भीमसेन जोशी, किशन महाराज, विश्वमोहन भट्ट के साथ—साथ उस्ताद बिस्मिल्ला खाँ, अली अकबर खाँ, अमजद अली खाँ, अल्लारखा खाँ और जाकिर हुसैन समान अधिकार से आसीन हैं। फिल्म, क्रिकेट, साहित्य और ललित कला में हमारी साझी

संस्कृति और साझी विरासत का सांझा चूल्हा पूरी गर्मी और गर्मजोशी के साथ जल रहा है। दूर-दराज के देहाती क्षेत्रों में मेहनतकश जन-समुदाय अपने मेलों—ठेलों में, तीज—त्यौहारों में सहभागिता की लौ अब भी जलाये हुए हैं। धर्म के क्षेत्र में इनकी एकता को मजबूत करने का रास्ता सर्वधर्म समभाव के अलावा दूसरा नहीं है। सच्ची धर्मनिरपेक्षता के नाम पर धर्म के ही खिलाफ हल्ला बोल देने का जोश आत्मघाती है। वामपंथी चिंतको ने ऐसी आत्मघाती भूलें पहले बहुत की हैं, उदाहरण के लिए, राहुल सांकृत्यायन ने 'तुम्हारी क्षय' में लिखा, "हिन्दुस्तानियों की एकता मजहबों के मेल पर नहीं होगी, बल्कि मजहबों की चिता पर" (पृ. ११) चीन जैसे साम्यवादी देश में भी—जहाँ कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्यों की संख्या विश्व भर में सर्वाधिक एक करोड़ के आसपास होगी—"मजहबों की चिता" की कल्पना नहीं की जा सकती। धर्म की समस्या को "मूँदहुँ आँख कतहुँ कछु नाही" वाले ढंग से हल नहीं किया जा सकता। खासतौर से भारत में—जहाँ इतने अधिक धर्म हैं, जहाँ धर्मों की परम्पराएँ अत्यंत पुरानी हैं—धर्म एक बेहद संवेदनशील मुद्दा है। धर्मांधता और धर्म की राजनीति के बढ़ाव के दौर में सर्वधर्म समभाव की आलोचना करने से धर्मोन्मादी शक्तियों को ही बल मिलेगा। यह समझ लेना चाहिए कि लोकजीवन में गहरे समाई हुई सर्वधर्म समभाव की परंपराओं के ही कारण हिन्दुत्ववादियों को पूरी या स्थायी सफलता नहीं मिल पाई। हमें देश की बहुधर्मी जनता की एकता को मजबूत करने और साम्प्रदायिक शक्तियों को अलग-थलग करने में विवेकानन्द के संदेश का अमृत मिलाकर धर्मांधता से मूर्छित जनजीवन में नया प्राण संचार करना चाहिए। अपनी सर्वधर्म समभावी परम्परा की पूँजी का उपयोग करना चाहिए। वेद, उपनिषद्, बुद्ध, कबीर, रामकृष्ण, विवेकानन्द के सन्देश का अमृत मिलाकर धर्मांधता से मूर्छित जनजीवन में नया प्राण संचार करना चाहिए। ●

# भारतीय संस्कृति एवं आधुनिक जीवन

राकेश कुमार मित्तल

बीसवीं शताब्दी वैज्ञानिक प्रगति की दृष्टि से क्रांतिकारी रही है। विशेषतः इस शताब्दी के अन्तिम पचास वर्षों ने तो मानव-जीवन का स्वरूप ही बदल दिया है। इस अवधि में विज्ञान ने मनुष्य को सुख की इतनी सुविधायें जुटा दीं कि उसको लगने लगा कि विज्ञान ही सब कुछ है और इसके माध्यम से जीवन की प्रत्येक कठिनाई पर विजय पाई जा सकती है। परिणामस्वरूप ईश्वर के प्रति हमारी सच्ची आस्था ही नहीं रही और वह मात्र धर्म के नाम पर कुछ औपचारिकताएँ पूर्ण करने की वस्तु बनकर रह गया। विज्ञान की चकाचौंध में हम यह भी भूलने लगे कि जिसे हम विज्ञान कहते हैं वह मात्र प्रकृति के कुछ रहस्यों की जानकारी है और जिस बुद्धि से हम उन रहस्यों की खोज करते हैं, वह बुद्धि भी प्रकृति की ही देन है। हमें यह भी पता नहीं कि हम प्रकृति के कितने रहस्यों को जान सके हैं और कितने जानने अवशेष हैं।

इस बात का अनुमान हम मात्र पिछले दस वर्षों की प्रगति के आधार पर ही लगा सकते हैं। आज हम ऐसे अनेक यंत्रों आदि का उपयोग करते हैं जिनकी कल्पना भी दस वर्ष पूर्व नहीं कर सकते थे। मोबाइल फोन और इन्टरनेट इसके दो सरल उदाहरण हैं। इस बात को स्वीकार करना कठिन नहीं है कि प्रकृति के जिन रहस्यों के आधार पर मोबाइल फोन काम करता है, वे रहस्य पहले भी रहे होंगे। इसी प्रकार आज हम ऐसे अनेक रहस्यों को नहीं जानते जिनका उपयोग हम भविष्य में करेंगे। यही बात विज्ञान के अन्य आविष्कारों पर भी लागू होती है। मेरा मत यह है कि हम प्रकृति के बारे में जितना अधिक जानने का प्रयास करते हैं अथवा

जान पाते हैं, उतना ही हमें अपनी अज्ञानता का आभास होता है। केवल कम जानने वाले ही इस भ्रम में रहते हैं कि वे सब जानते हैं।

इस पृष्ठभूमि से दो बातें उभरती हैं। एक तो यह कि मनुष्य हमेशा सत्य की खोज में लगा रहता है। उसके जीवन की यात्रा ज्ञात से अज्ञात की ओर चलती रहती है। जो उसे ज्ञात है उससे कदाचित् उसे संतोष नहीं मिलता और वह सोचता है कि प्रगति अज्ञात को जानने में है। वास्तव में यह सत्य भी है, किन्तु इसके साथ दूसरी यह बात समझना भी आवश्यक है कि इस खोज अथवा प्रगति का उद्देश्य क्या है? विना अधिक विस्तार में जाये यह बात कही जा सकती है कि प्रत्येक मनुष्य की खोज का उद्देश्य प्रसन्नता प्राप्त करना है। इसी उद्देश्य की प्राप्ति हेतु वह नये आविष्कार करता है, धन एकत्रित करता है और अन्य भौतिक क्षेत्रों में प्रगति करता है। वैज्ञानिक प्रगति के फलस्वरूप उसे प्राप्त सुख-सुविधाओं का मुख्य उद्देश्य भी प्रसन्नता प्राप्त करना है। आज मनुष्य को वे सुख-सुविधाएँ प्राप्त हैं जिनकी कभी कल्पना भी नहीं की जा सकती थी और निःसंदेह उनके कारण मानव-जीवन बाह्य रूप से अत्यन्त उत्कृष्ट हुआ है।

जहाँ उपर्युक्त बात निर्विवाद है वहीं यह भी निर्विवाद कहा जा सकता है कि इस सब प्रगति के बावजूद भी मनुष्य की प्रसन्नता में वृद्धि नहीं हुई है। यदि सूक्ष्म परीक्षण किया जाये, तो शायद यह कहना भी गलत नहीं होगा कि सुख-सुविधाओं के बढ़ने के साथ मनुष्य के जीवन में प्रसन्नता कम हुई है। ऐसी स्थिति में यह चिंतन का विषय है कि त्रुटि



कहाँ हो रही है। आधुनिक जीवन की भागदौड़ में हम आंतरिक समस्याओं का समाधान भी बाहर ही खोज रहे हैं और परिणामस्वरूप स्थिति बद से बदतर हो रही है। पश्चिमी सोच यह है कि सुख के साधन ही प्रसन्नता प्रदान करते हैं और इसी को वे जीवन का लक्ष्य मानते हैं। इसका परिणाम यह हुआ है कि सामाजिक मूल्यों का इतना हास हो गया है कि स्थिति भयावह लगती है। यह हास व्यक्तिगत स्तर से लेकर अन्तर्राष्ट्रीय स्तर तक हुआ है। परिवार, जो पहले एक संगठित इकाई होता था, अब कलह का स्थान बन गया है और ऐसी स्थिति में मनुष्य बाह्य प्रगति के सुख से भी वंचित हो रहा है।

भारतीय संस्कृति का चिंतन सर्वथा भिन्न रहा है। हमने सुख व दुःख को व्यापक दृष्टि से देखा है व दोनों ही परिस्थितियों में प्रसन्न रहने का रहस्य भी समझा है। हमारी संस्कृति के अनुसार प्रसन्नता मन की एक स्थिति है जिसको प्राप्त करने के लिए मात्र बाह्य साधन पर्याप्त नहीं हैं। वे हमारी प्रसन्नता में योगदान तो कर सकते हैं, किन्तु प्रसन्नता का आश्वासन नहीं दे सकते। वास्तविक प्रसन्नता प्राप्त करने के लिए हमें जीवन को समग्र रूप से समझना होता है जिसके लिए आंतरिक विकास भी उतना ही आवश्यक है जितना बाह्य। एक दृष्टि से तो आंतरिक विकास का महत्त्व बाह्य विकास से कहीं अधिक है। यह सामान्य अनुभव है कि निर्धन लोग कठिन परिस्थितियों में भी धनी लोगों से अधिक प्रसन्न रहते हैं। यह उनका आन्तरिक वैभव है और इसके अभाव में बाह्य वैभव महत्त्वहीन हो जाता है। हमारी संस्कृति में सुख व दुःख दोनों को स्वीकार करते हुए अंततः दोनों से ऊपर उठना होता है इसके विपरीत, आधुनिक जीवन में सभी सुख की ओर लपकना और दुःख से बचना चाहते

हैं। वास्तविक जीवन में यह कदापि संभव नहीं है और हम चाहें अथवा न चाहें सुख व दुःख दोनों का क्रम जीवन में चलता है। यदि हम दुःख को स्वीकार करने को तत्पर नहीं हैं, तो सुख जाने की चिंता उसका आनंद भी समाप्त कर देती है।

भारतीय चिंतन के अनुसार सुख व दुःख दोनों परिवर्तनशील हैं और मनुष्य को दोनों के प्रति उदासीन भाव रखना चाहिए। इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि हम अपनी संवेदना ही खो दें। वास्तव में उदासीनता की स्थिति में हमारी संवेदनशीलता और भी बढ़ जाती है, किन्तु उससे प्रसन्नता में न्यूनतम विघ्न होता है। कहने में तो यह बात सरल लगती है, किन्तु इस प्रकार की स्थिति प्राप्त करना कठिन होता है। भगवद्गीता एक ऐसा ग्रन्थ है जिसमें इस प्रकार की स्थिति प्राप्त करने का मार्ग सुझाया है। गीता के अतिरिक्त हमारे अनेक अन्य प्राचीन ग्रंथ हैं जो हमें प्रत्येक स्थिति में प्रसन्न रहने का रास्ता बताते हैं। हमारा सामान्यतः यह भ्रम होता है कि इस प्रकार की पुस्तकें हमें जीवन के प्रति संन्यास का संदेश देती हैं। वास्तविकता इसके विपरीत है। ये ग्रंथ तो हमें जीवन और भी अच्छी तरह जीने का संदेश देते हैं। इस प्रकार के ग्रंथों को किसी वर्ग-विशेष अथवा धर्म-विशेष ग्रंथ भी नहीं कहा जा सकता। ये तो मानव-ग्रंथ हैं और प्रत्येक व्यक्ति के जीवन को बेहतर बनाने का संदेश देते हैं।

यदि हम 'गीता' की ही बात करें, तो यह वह ग्रंथ है जिसमें भगवान् श्रीकृष्ण युद्ध से भागते अर्जुन को पूर्ण मनोवेग से युद्ध करने का उपदेश देते हैं। वास्तव में यह एक ऐसा ग्रंथ है जिसकी रचना युद्ध के मैदान में ही हुई। हमारी संस्कृति में कहीं भी जीवन के संघर्ष का सामना न करने की बात नहीं कही गयी है, केवल अनासक्त भाव से

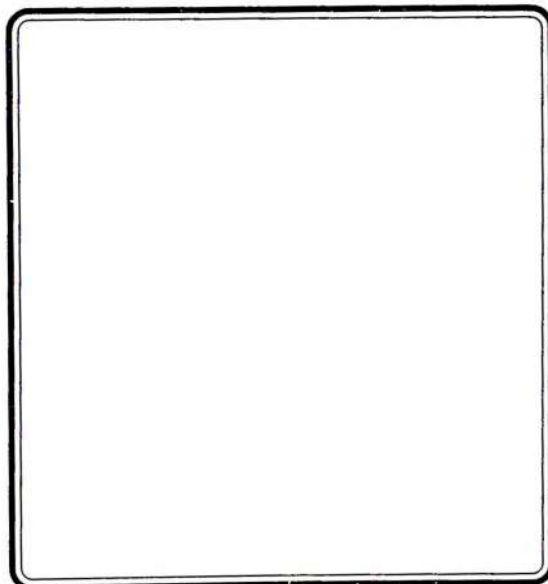


जीने की बात कही है। इसका अर्थ यह है कि हम किसी भी परिस्थिति में अपनी आंतरिक सौम्यता पर आँच न आने दें और यह तभी सम्भव है जब हम पर बाह्य घटनाओं का प्रभाव न्यूनतम हो। जैसे-जैसे यह प्रभाव कम होगा, वैसे-वैसे हमारी आंतरिक सौम्यता बढ़ेगी और हम आनंद की अनुभूति करेंगे। इस प्रभाव को कम करने के लिए गीता ने अनेक गुण विकसित करने का संदेश दिया है और यह स्थापित किया है कि दैवीय गुणों का विकास ही अन्ततः हमें प्रसन्नता देता है। इन गुणों के अभाव में हमें कोई बाह्य सुख-साधन शांति व प्रसन्नता प्रदान नहीं कर सकते।

केवल गीता ही नहीं, सभी धर्मग्रंथों में मूलतः यही बात कही गयी है। बाइबिल, कुरान, गुरुग्रंथ साहब आदि सभी धर्मग्रंथ मनुष्य को आंतरिक विकास का ही संदेश देते हैं। इनमें विज्ञान व धर्म के बीच कोई विरोधाभास नहीं बताया गया है। वे तो एक-दूसरे के पूरक हैं। एक के अभाव में दूसरा अपंग हो जाता है। यदि हम दोनों का सामंजस्य अपने जीवन में कर सकें, तो न केवल आधुनिक जीवन की सुख-सुविधाओं का आनंद ले सकते हैं बल्कि हमारे वश के बाहर सुख-दुःख के घटनाक्रम से स्वयं को अप्रभावित रख सकते हैं। इस प्रकार भारतीय संस्कृति व आधुनिक जीवन में वास्तव में कोई टकराव नहीं है। यदि कोई टकराव की बात करता है, तो वह अज्ञानता है और उसे दूर किया जाना चाहिए। इसके अभाव में ही युवा पीढ़ी का आकर्षण केवल बाह्य विकास की ओर हो रहा है। यदि भारतीय संस्कृति का वैज्ञानिक पक्ष उसके सम्मुख रखा जाय, तो निःसन्देह वह उसकी ओर आकर्षित होगी व अपने जीवन में संतुलन लायेगी।

आज भारत की ही नहीं, पूरे विश्व की यह आवश्यकता है। बीसवीं शताब्दी में विज्ञान अपनी

चरम सीमा पर पहुँच चुका है। एक ओर जहाँ उसने मनुष्य के विकास के साधन विकसित किये हैं, उससे अधिक विनाश के साधन भी विकसित कर लिए हैं। विज्ञान द्वारा विनाश की आज कल्पनामात्र हमें झकझोर देती है। ऐसे में पुनः भारत जैसे देश पर विश्व की दृष्टि पड़ रही है। विश्वप्रसिद्ध आध्यात्मिक नेता दलाई लामा ने इक्कीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में ही यह आह्वान किया है कि अब आर्थिक, सामाजिक अथवा राजनैतिक क्रांति से काम नहीं चलेगा, वह पर्याप्त हो चुकी है। अब मात्र आध्यात्मिक क्रांति की आवश्यकता है। ऐसी स्थिति में भारतीय व अन्य प्राचीन संस्कृतियों को ठीक से समझना और उनका आधुनिक जीवन में उपयोग करना एक चुनौती है। समाज को नेतृत्व देने वाले सभी व्यक्तियों को इस चुनौती को स्वीकार करना होगा। मेरा विश्वास है कि इस चुनौती का सामना करने की क्षमता भारत में है और इस दृष्टि से वह विश्व को नेतृत्व प्रदान करने की स्थिति में है। •



## पर्यावरण संरक्षण : जीवन का सर्वोच्च मूल्य

डॉ० धर्मजंग

विगत जनवरी और फरवरी माह (२००६) के मौसम (जो सामान्यतः भारत के बड़े भू-भाग का शीत काल माना जाता है) ने सम्पूर्ण जनमानस को अचंभित कर दिया। कारण था— समय से पहले ही ठंड का समाप्त होना और बढ़े हुए तापमान का अनुभव होना। मौसम का यह अचंभित और परेशान करने वाला परिवर्तन पहले भी लक्षित हुआ है, जब ग्रीष्म के बाद मानसून काल में भारत में सही समय पर और पर्याप्त मात्रा में वर्षा नहीं हुई या फिर ग्रीष्म में तापमान अपने सामान्य औसत से काफी ऊपर चला गया। पर्यावरण में इस आकस्मिक परिवर्तन के पीछे प्रकृति का स्वाभाविक परिवर्तनशील स्वभाव मात्र ही नहीं है अपितु इसमें आधुनिक मानव की भी बड़ी भूमिका है। वैज्ञानिकों ने इस प्रकार के परिवर्तन के पीछे पृथ्वी के बढ़ते तापमान और प्रदूषण को जिम्मेदार ठहराया है। पृथ्वी के इस बढ़ते तापमान (Global Warming) के दुष्प्रभाव का असर केवल भारत में ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण विश्व में अनुभव किया जा रहा है। इस वैश्विक उष्णता के प्रभाव के कारण ही कुछ माह पूर्व दक्षिणी अण्टार्कटिका का एक बहुत बड़ा हिमखण्ड वहाँ की मुख्य भूमि से टूटकर अलग हो गया तथा समुद्र में बहने लगा। इसी प्रकार अफ्रीका के किलीमंजारो पर्वत के शिखर पर पिछले तीन साल से हिम आवरण का अभाव हो गया है जबकि इससे पहले वहाँ स्वाभाविक रूप से बर्फ से पर्वत की चोटी ढकी रहती थी।

विश्व के विभिन्न भागों में हो रही प्राकृतिक अनियमितताओं ने पर्यावरण असन्तुलन की ओर मनुष्य का ध्यान आकृष्ट किया है और इसी कारण चिन्तित मानव समुदाय के विभिन्न हिस्सों में पर्यावरण

संरक्षण के प्रयास भी आरम्भ हो गए हैं। लेकिन मेरा मानना है कि पर्यावरण संरक्षण के सभी प्रयास हमारी किसी समस्या से प्रभावित होकर उसके प्रति एक प्रतिक्रिया मात्र न हो। न ही वर्तमान जीवन की अन्य सामाजिक समस्याओं को सुलझाने के लिए किये जा रहे सरकारी प्रयासों की तरह एक उपक्रम मात्र हो। बल्कि पर्यावरण संरक्षण के प्रति हमारी दृष्टि अपने जीवन में स्थापित एक सर्वोच्च सामाजिक मूल्य या जीवन मूल्य की होनी चाहिए। मूल्य वह सामाजिक शक्ति व नियंत्रण है, जिससे नियन्त्रित होकर व्यक्ति समाज में ऐसा व्यवहार करता है जो सामाजिक परिस्थितियों, आकांक्षाओं के अनुकूल होता है और व्यक्ति को समाज में अपनी भूमिका व उत्तरदायित्व को समुचित रूप से निष्पादित करके समायोजित होने में सहायता प्रदान करते हैं। इन्हीं मूल्यों के माध्यम से व्यक्ति, समूह एवं समुदाय अपने व्यवहार पर नियंत्रण रखते हैं।

पर्यावरण संरक्षण वर्तमान संदर्भ में सम्पूर्ण मानवजाति का सर्वोच्च स्वीकरणीय और अनुकरणीय जीवनमूल्य होना चाहिए। क्योंकि यदि हमारा जीवन ही सुरक्षित न होगा तो आज की आधुनिक विकासवादी परिभाषा के अनुसार गढ़े गए विकास के प्रतिमानों का कोई अर्थ नहीं रह जाएगा। जीवन की गुणवत्ता का ठोस आधार पर्यावरण की गुणवत्ता ही हो सकती है। अतः शुद्ध पानी, स्वच्छ भोजन, निरापद वायु, साफ—सुथरा आवास और विना किसी प्रदूषण के वातावरण एक अच्छे पर्यावरण के आवश्यक घटक हैं। साथ ही जीवन जीने के लिए मानसिक रूप से स्वस्थ होना तथा प्रकृति से विरासत में मिले विभिन्न पदार्थों का ठीक से उपभोग करना भी



उतना ही आवश्यक है।

वस्तुतः पारिस्थितिकी तंत्र एक त्रिकोणात्मक स्थिति है जिसके एक बिन्दु पर पर्यावरण, दूसरे पर मानव (जनसंख्या) और तीसरे पर संगठन (आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक) है। मानव तथा पर्यावरण एक दूसरे के पूरक हैं। मानवीय कृत्य पर्यावरण से प्रभावित होते हैं और उन्हीं कृत्यों से पर्यावरण प्रभावित व प्रदूषित होता है जो मानव को पुनः हानि पहुँचाते हैं। वास्तव में मानव पर्यावरण सम्बन्ध आपसी क्रिया-प्रतिक्रिया पर निर्भर करते हैं। आवश्यकता इस बात की है कि मानव पर्यावरण सम्बन्धों को एक-दूसरे का पूरक बनाया जाए न कि प्रतिरोधी या विरोधी। पर्यावरण को संतुलित बनाए रखने के लिए उसका संरक्षण किया जाना आवश्यक है। पर्यावरण का प्रभाव हमारी शारीरिक संरचना, रहन-सहन, भोजन, आवास, स्वास्थ्य आदि क्रियाओं पर प्रत्यक्ष रूप से पड़ता है। आज वनों की अन्धाधुन्ध कटाई, वायु-प्रदूषण, जल-स्रोतों में गिरावट, औद्योगिक कूड़ा-कचरा, वन्य-प्राणियों का वध, परमाणविक विस्फोट, युद्धों में प्रयुक्त रासायनिक अस्त्र-शस्त्र आदि सभी क्रियाएँ पर्यावरण को असन्तुलित करने में अपना योगदान करती हैं। जबकि प्राचीन भारतीय ऋषियों ने कहा है, "प्रकृति हमारी माता है जो सभी कुछ अपने बच्चों को अर्पण कर देती है।" चरक का कथन है, "स्वस्थ जीवन के लिए शुद्ध वायु, जल तथा मिट्टी आवश्यक कारक हैं।" आज मानव का कृत्य प्राचीन ऋषियों की भावनाओं के विपरीत दिखाई पड़ रहा है।

पर्यावरण संरक्षण का प्रश्न आज स्वयं मनुष्य के अपने अस्तित्व से जुड़ा हुआ है। और मनुष्य की अस्तित्वात्मक समस्या का स्वरूप एवं क्षेत्र विशिष्टभूखण्ड में सीमित नहीं, अपितु वैश्विक होता है। इस सन्दर्भ में प्रख्यात विचारक पाल टेलर का

विचार उल्लेखनीय है कि, "प्रत्येक वस्तु अपने तरीके से अपना हित चाहती है। अतः सभी जीवों को स्वयं की भाँति व्यवहृत होना चाहिए और उनके अस्तित्व को मूल्यवान समझना चाहिए।" इसी प्रकार लारेन्स जानसन की यह धारणा है कि, "सम्पूर्ण पारिस्थितिकी तंत्र विभिन्न जीवों का संग्रह मात्र नहीं है अपितु स्वयं में एक समष्टि है।" उनके कथन का निहितार्थ है कि जिस प्रकार व्यक्तिगत मानवीय हितों का नैतिक दृष्टि से संरक्षण करना हमारा दायित्व है, उसी प्रकार सम्पूर्ण पारिस्थितिकी तंत्र को नैतिकता की परिधि में लाने की आवश्यकता है।

वस्तुतः मानव व प्रकृति का इस प्रकार का अन्तः सम्बन्ध है कि दोनों एक दूसरे के लिए आवश्यक हैं और साथ ही यह भी सत्य है कि मानव इस जगत का सर्वोत्कृष्ट प्राणी है। वह प्रकृति के संसाधनों का पूरा प्रयोग करते हुए विकास में संलग्न है। वह आर्थिक, वैज्ञानिक, तकनीकी प्रगति कर रहा है। इसी कारण वह आधुनिकता की ओर बढ़ रहा है। इस क्रम में प्रकृति पर उसकी विजय स्वाभाविक है, परन्तु इस विजय के लिए प्रकृति पर उसका आक्रमण हमारे लिए आत्मप्रशंसा का विषय नहीं है। क्योंकि इससे मानव तथा प्रकृति के सम्बन्धों का सन्तुलन बाधित होता है और परिणाम स्वरूप मानवजाति के सम्मुख अनेक प्राकृतिक समस्याओं: यथा-जलवायु परिवर्तन, पृथ्वी के तापमान में वृद्धि, भूमि की उत्पादन क्षमता में कमी, असमय बाढ़, अकाल, क्लोरो-फ्लोरो कार्बन से ओजोन परत का क्षय, तेजाबी वर्षा, वैश्व जैव-सम्पदा आदि के विलुप्त होने आदि के संकट उत्पन्न हो जाते हैं। यही है, प्राकृतिक प्रतिशोध, जिसे हम पर्यावरण संकट के रूप में पाते हैं। इस प्राकृतिक दोहन से किया गया विकास भले ही वर्तमान में विकास के

रूप में दिखाई पड़ रहा है, परन्तु यह भविष्य का संकट है जिसकी हम अनदेखी नहीं कर सकते हैं। वस्तुतः हमें विकास के साथ-साथ पर्यावरण संरक्षण के लिए भी प्रयास करना होगा। हमें संपन्नता की होड़ में प्राकृतिक संसाधनों का अन्धाधुन्ध दोहन भी रोकना होगा। वर्ना हम आने वाली पीढ़ी को उत्तराधिकार में क्या सौपेंगे?

मानव सामाज और राष्ट्र के विकास के लिए विकास और पर्यावरण दोनों आवश्यक हैं। एक संतुलित और उत्फुल्ल पर्यावरण के माध्यम से ही विकास जारी रह सकता है और मानव जीवन उच्च स्तर पर पहुँच सकता है। वातावरण स्वच्छ होगा तो प्रदूषण कम होगा और उससे बीमारी तथा दुःख दूर होंगे जिससे उत्पादकता बढ़ेगी और विकास में गति आएगी। विकास और पर्यावरण की पारस्परिक निर्भरता की बात को अच्छी तरह समझना और व्यवहार में लाना होगा। यह तभी किया जा सकता है जब तीव्र विकास की आवश्यकता और पर्यावरण संरक्षण की महत्ता के प्रति सही दृष्टिकोण अपनाया जाए। पर्यावरण संरक्षण का दर्शन एक ऐसे सुखी और सम्पन्न मानव समाज की रचना और प्रगति में निहित है जो अपने पर्यावरण को कम से कम क्षति पहुँचाए तथा अपनी प्रगति बनाए रखने में सक्षम हो। इसके लिए एक तरफ तो मानव-प्रकृति के सम्बन्धों को सुव्यवस्थित करने की आवश्यकता पड़ती है तो दूसरी तरफ एक समाज से दूसरे समाज के बीच तालमेल बनाए रखना भी जरूरी समझा जाता है। यह तभी संभव है जब राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक, प्राविधिकीय और अन्तर्राष्ट्रीय

तालमेल बनाया जा सके।

अंततः यह कहना ठीक होगा कि पर्यावरण मानव जीवन से अलग कोई इकाई नहीं होती। मानव और पर्यावरण के एक दूसरे पर आश्रित इस रिश्ते की अनदेखी कर जब मनुष्य स्वयं को प्राकृतिक संसाधनों का एकमात्र मालिक घोषित कर केवल उसका शोषण करेगा तो स्वयं उसका अस्तित्व संकट में पड़ जाएगा। अपने पर्यावरण के प्रति हमारी दृष्टि विभिन्न टुकड़ों में बटी न होकर समग्र होनी चाहिए और पर्यावरण संरक्षण हमारे जीवन का एक सामान्य अनुकरणीय मूल्य न होकर सर्वोच्च अनुकरणीय मूल्य होना चाहिए। यही आज की महती आवश्यकता है। भारतीय जीवन दृष्टि में यह माना जाता है कि प्रकृति की यह ऋतु-चक्र प्रणाली प्रकृति का एक यज्ञ है जिसे भारतीय वाङ्मय में 'ऋत' का नाम दिया गया है और प्रत्येक मनुष्य का यह कर्तव्य है कि वह अपने सत्प्रयासों के द्वारा इस प्रकृति यज्ञ में कुछ आहुति दे अर्थात् प्राकृतिक संपोष्यता को बनाये रखे। क्योंकि वेदों की मान्यता है कि जहाँ यज्ञ में स्वेच्छा से आहुति नहीं दी जाती है, वहाँ प्रकृति जबरदस्ती अपनी वसूली करती है और इस प्रकार जीवन-विधान की रक्षा करती है। यही पारस्परिक आदान-प्रदान जीवन का नियम है। यह बात नैसर्गिक रूप से भी सत्य है कि हम जो बोयेंगे वही काटेंगे भी। अतः चाहे प्रकृति-यज्ञ के रूप में कहें या स्वयं मानव अस्तित्व की रक्षा की दृष्टि से कहें, आज पर्यावरण का संरक्षण मानव का सर्वोच्च जीवन-मूल्य है, जिसे प्रत्येक जन के लिए हृदयंगम करना परमावश्यक है। ●



# गाँधी, रामराज्य व नैतिक मूल्य

डॉ० उपासना पाण्डेय

हाल ही में वाराणसी में हुए आतंकवादी हमले ने मन में एक वितृष्णा पैदा कर दी है वितृष्णा आदर्श एवं मूल्य-परक सिद्धान्तों से, वितृष्णा धर्म-अध्यात्म, श्रद्धा, प्रेम, दया, नैतिकता, परोपकारिता जैसे तथाकथित उच्च जीवन मूल्यों से। ऐसी विरक्तता का आना स्वाभाविक भी है। यदि वास्तव में ये आदर्श नैतिक-मूल्य सार्वभौमिक व चिरकालिक हैं तो आज ये कहाँ हैं? अथवा वर्तमान समाज में कहाँ है इनकी सार्थकता? ऐसे मूक-अनुत्तरित प्रश्नों से आज समाज का प्रायः हर व्यक्ति जूझ रहा है और स्वयं को असहाय महसूस कर रहा है।

परन्तु जब हमारी उत्तेजित मनोभावना कुछ स्थिर होती है, चित्त जब शान्त होता है, तो अन्वेषणात्मक प्रवृत्ति सकारात्मक रूप में जागृत हो उठती है और तब हम शान्ति की खोज में निकल पड़ते हैं। इसी राह में हमारे मार्गदर्शक के रूप में प्राचीन जीवन-मूल्य एवं इनके आधारभूत स्रोत (धर्मग्रन्थ), सन्त-मनीषियों की उक्तियाँ और महापुरुषों का जीवन हमें नई रोशनी देता है। विक्षिप्तता एवं संतप्तता की अवस्था में भी एक आशा, एक विश्वास व एक आश्वासन मिलता है कि सब कुछ समाप्त नहीं हो गया है और हम नये उत्साह, नये उमंग के साथ पुनः भविष्य निर्माण के लिए स्फुरित हो उठते हैं।

इसी परिपृष्ठ में महात्मा गाँधी द्वारा प्रतिपादित रामराज्य की अवधारणा यहाँ प्रस्तुत की जा रही है। इस आशा के साथ कि वर्तमान परिप्रेक्ष्य में यह अवधारणा हमारा पथ प्रदर्शन करेगी, वर्तमान को अपेक्षाकृत अधिक व्यवस्थित व मूल्यनिष्ठ बनाने

में हमें सहायता प्रदान करेगी।

एक विचारक के रूप में गाँधी दो विपरीत विचारों में तालमेल स्थापित करने का प्रयास करते हैं। एक तरफ टॉलस्टाय की सामाजिक विचारधारा कि स्वर्ग रूपी समाज धरती पर ही प्राप्त है, तो वहीं दूसरी तरफ दोस्तुवस्की का विचार कि यह कभी भी सम्भव नहीं है। वस्तुतः गाँधी का रामराज्य सन्त थॉमस आगस्टाइन की अवधारणा-धरती पर ईश्वर का राज्य-एवं एक जनतांत्रिक प्रणाली जिसमें सम्प्रभुता जनता में निहित हो, इन दोनों का सामंजस्य है।

रामराज्य की अवधारणा को प्रस्तुत करते समय गाँधी ने इस बात पर बल दिया कि यह एक ऐसा समाज होगा जो व्यक्ति की नैतिक सत्ता पर आधारित होगा। राज्य एक हिंसात्मक संगठन के रूप में समाप्त हो जाएगा। लोग स्वयं इतने सत्यवादी, अनुशासित व अहिंसावादी होंगे कि सत्ता की आवश्यकता ही नहीं रह जाएगी। ऐसे वातावरण में दैवीय आत्मा का वास होगा एवं रामराज्य की स्थापना होगी।

ध्यातव्य है कि राम गाँधी के लिए एक गुण के प्रतिबिम्ब हैं। अपना राज्य त्यागकर राम ने सत्य की सार्थकता को लोगों के समक्ष प्रस्तुत किया। विश्व के सभी राजाओं (सत्ताधारियों) के समक्ष इस आदर्श आचरण को अभिव्यक्त किया कि सत्ता का प्रमुख लक्ष्य सत्य की प्रतिष्ठा है भले ही उसके लिए सत्ता व स्वयं सत्तावान् का सर्वस्व ही क्यों न समाप्त हो जाये। राम ने एक आत्म-नियन्त्रित व आत्म-संयमित जीवन जीकर यह सिद्ध किया कि राजपरिवार के लोग भी मर्यादा एवं आत्मानुशासन



में रह सकते हैं। उन्होंने अपने शासन में एक जनहित प्रशासन को लागू करके यह दर्शाया कि आम लोगों की राय भी महत्वपूर्ण है। राम व उनके राज्य के इन्हीं गुणों के कारण गाँधी ने अपने आदर्श सामाजिक व्यवस्था का नाम रामराज्य दिया। गाँधी के लिए राम आदर्श व्यवहार, आत्मनियन्त्रण, लोकहित-प्रशासन एवं जनता की खुशी के प्रतीक थे। और ऐसी राजनीति-व्यवस्था जहाँ ऐसे सभी गुण मौजूद हों हम कह सकते हैं कि वहाँ रामराज्य है।

यद्यपि गाँधी राज्य के विप्लवकारी विचारधारा को आदर्श मानते थे तथापि व्यावहारिकता में गाँधी राज्य के न्यूनतम शासन को भी स्वीकारते थे। गाँधी का मानना था कि राज्य हिंसा का पर्याय है। राज्य का स्वामित्व अथवा निजी स्वामित्व शोषण का कारण है। अतः राज्य की शक्ति जितनी कम होगी शोषण उतना ही कम होगा। न्यूनतम राजकीय हस्तक्षेप की नीति एक प्रबुद्ध अराजकता (Enlightened Anarchy) की माँग करती है। ऐसे अराजक समाज में व्यक्ति अपना शासक स्वयं होता है। वह अपने आप में इस तरह से शासन करता है कि वह अपने पड़ोसी को किसी प्रकार का कष्ट नहीं होने देता।

यहाँ यह प्रश्न उठाना अत्यंत ही प्रासंगिक है कि आज सत्तालोभियों से भरे राजनीतिक-व्यवस्था में क्या इस प्रकार की 'व्यावहारिक-व्यवस्था' भी सम्भव है? इस सन्दर्भ में पुनः गाँधी कहते हैं कि मनुष्य स्वभाव से अच्छा है परन्तु बुरा वातावरण उसे हमेशा दिग्भ्रमित करता रहता है। मानव सभ्यता का आज तक का इतिहास इस बात का साक्षी है कि समय-समय पर मनुष्य की सात्विक प्रवृत्तियाँ मानव अस्तित्व की रक्षा करती आयी हैं। फलतः मानवीय नैतिक गुण ही सार्वभौमिक व सर्वकालिक हैं। इसे

ही सत्य मानकर गाँधी ने निरन्तर विकास की बात कही है। गाँधी का मानना था कि व्यक्ति अपने नैतिक गुणों को बढ़ाकर शोषण व आतंक को न्यून कर सकता है।

हॉब्स, हीगल, ऑस्टिन इत्यादि से सर्वथा ही भिन्न गाँधी ने व्यक्ति की नैतिक सम्प्रभुता की चर्चा की है। गाँधी के अनुसार हमारे सभी चिन्तन का केन्द्र व्यक्ति होना चाहिए और वैयक्तिक स्वतन्त्रता को प्रकट होने का अवसर मात्र विशुद्ध अहिंसा पर आधारित शासन में ही मिल सकता है जिसका साक्षात् स्वरूप रामराज्य है। रामराज्य की अवधारणा मात्र राजनीतिक आदर्श नहीं है परन्तु यह नैतिक-आत्मा के राज को दर्शाती है। जहाँ नैतिकता का राज्य होगा वहाँ किसी भी तरह का भेदभाव, तनाव एवं टकराहट का अभाव होगा। सहानुभूतिपूर्वक एक दूसरे को सहयोग देना, बलविहीन संगठन एवं स्वतःप्रेरित सहयोग—यह सभी रामराज्य के लक्षण हैं, प्रत्येक व्यक्ति ईमानदारी से अपनी जीविका उपार्जित करेगा एवं बुद्धिजीवी और मजदूर में कोई फर्क नहीं होगा। यह समाज जातीय संघर्ष से मुक्त होगा। रामराज्य में आर्थिक स्थिरता रहेगी। यहाँ तक कि वितरण का कार्य भी समाज ही करेगा। इसकी विशेषता यह होगी कि लोगों के बीच में एक-दूसरे के प्रति विश्वास होगा। व्यक्ति लोकहित की चिन्ता करेगा तथा न्याय एवं अधिकार के सिद्धान्त का पालन करेगा। अहिंसा समाज का नियम होगा जो एक अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति स्थापित करने में सहयोग करेगा। इस व्यवस्था में युद्ध के लिए कोई स्थान नहीं रहेगा। गाँधी के विचार में यही रामराज्य है। यह एक तरह से सुव्यवस्थित समाज का आदर्श रूप है। यह ज्यादातर एक समाज है न कि एक राज्य। इसके सामाजिक बन्धन कानूनी संस्थाओं के औपचारिक बन्धनों से



ज्यादा प्रभावशील हैं।

उपर्युक्त कथन का कदापि तात्पर्य नहीं है कि गाँधी के रामराज्य में युद्ध अथवा संघर्ष होगा ही नहीं। ऐसा मानना असंगत है क्योंकि व्यक्ति नकारात्मक व सकारात्मक संवेगों, भावनाओं का ही संश्लिष्ट योग है। इसीलिए गाँधी की राजनीति जो कि धर्मनीति का ही एक प्रयोग है, वह भी संघर्ष व युद्ध पर ही टिकी है। गाँधी के अनुसार युद्ध तो अनिवार्य है, किन्तु वह युद्ध धर्म-युद्ध होगा। जो युद्ध धर्म-भाव से नहीं किया जाता, वह संकट काटता नहीं, बढ़ाता है। धर्म साथ हो तो युद्ध से भी सफलता पायी जा सकती है अथवा पायी जाती रही है। इस प्रकार के धर्मयुद्ध से शत्रु मित्र बनता है अन्यथा शत्रु मित्र भी जावे परन्तु अपने पीछे शत्रुता के बीज छोड़ जाता है। बुराई के विरुद्ध तो युद्ध हमेशा ही होता रहा है। अतः युद्ध तो करना ही है, निरन्तर व अविराम युद्ध। परन्तु पल भर के लिए भी यह युद्ध पापी के विरुद्ध नहीं, वासनामूलक शक्ति प्राप्ति के लिए नहीं हो बल्कि पाप के विरुद्ध, शक्ति के विरुद्ध हो जो सभी प्रकार की बुराई व शोषण की जड़ है।

इस धर्म-प्रेरित युद्ध से संचित समाज का ध्येय है सत्य। क्योंकि ध्येय और कुछ हो ही नहीं सकता। जिसमें द्विधा है, दुई है, जिससे अलग भी कोई है, वह कैसा ध्येय। जो एक है, सम्पूर्ण है, स्वयंभू है, आदि-अन्त है, अनादि-अनन्त है, सत्य है वही ध्येय है। और यही ध्येय-सत्य-ही ईश्वर है। इस ध्येय को पूर्ण निष्ठा से स्वीकारने से जो व्यवहार-धर्म प्राप्त होता है, उसी का अंगीकरण है अहिंसा। अहिंसा इस प्रकार मन की समूची वृत्ति द्वारा ग्रहण की गयी शक्ति है जो रामराज्य की सर्वोत्तम प्रमुख विशेषता है। चित्त अहिंसा में रत हो, भीगा हो तभी ध्येय-सत्य-की प्राप्ति सम्भव है।

गाँधी के अनुसार सत्य प्राप्त नहीं है उसे पाना है, उसकी ओर बढ़ते रहना है। इसी में गति, उन्नति, प्रगति इत्यादि कर्म की आवश्यकता प्रतीत होती है और गाँधी-दर्शन में यह कर्म है सत्याग्रह।

यहाँ पर यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि

जब सत्य अखण्ड, अविभाज्य, सार्वकालिक व सार्वभौमिक है तो इसमें आग्रह कहाँ से आ गया? आग्रह है अर्थात् असत्य है। गाँधी के अनुसार यह शंका अत्यंत-ही संगत है और इसका निराकरण अवश्यम्भावी है परन्तु शर्त है 'सविनय'। विनय भाव की अनुपस्थिति में सत्याग्रह की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

व्यक्ति सदा ही अपूर्ण है। उसका समष्टि के साथ भेद भी इसी कारण है। फिर भी जिस सत्य की झाँकी व्यक्ति के अन्तःकरण में है, व्यक्ति की समूची निष्ठा उसके प्रति होनी चाहिए। यही डटे रहने की निष्ठा ही आग्रह है किन्तु इस आग्रह में सत्याग्रही अविनयी नहीं हो सकता, और आग्रह का कष्ट व दण्ड भी दूसरों को न देकर स्वयं अपने ऊपर ही लेता है। उसकी आग्रह की चोट दूसरों तक नहीं पहुँचने देता। अर्थात् गाँधी के रामराज्य में कानून (सरकारी और लौकिक) तक की अवज्ञा होगी, उसे भंग किया जाएगा, उसका विरोध होगा, लेकिन तभी जबकि सत्य की निष्ठा के कारण हों और अवज्ञा सर्वथा ही विनम्र और भद्र हो। इस प्रकार सत्य ध्येय रूप में, अहिंसा धर्म रूप में और सत्याग्रह कर्म रूप में रामराज्य की मूलभूत विशेषताएँ होंगी।

उपर्युक्त नैतिक व सात्विक विशेषताओं से परिपूर्ण रामराज्य आज के भौतिकतावादी व आतंकी समाज में कहाँ तक स्थापित किया जा सकता है यह एक अहम प्रश्न है। गाँधी के राजनीतिक चिन्तन को, जो प्राचीन भारतीय समाज की कल्पना पर आधारित है, आदर्श का पर्याय कहा जाता है। कभी-कभी उनके विचार काल्पनिक भी लगते हैं। ऐसा भी कहा जाता है कि रामराज्य सतयुग की व्यवस्था थी परन्तु आज कलियुग का दौर है जो कि बल या शक्ति का युग है। परन्तु साथ-ही हमें यह भी मानना पड़ेगा कि गाँधी की राजनैतिक सोच मात्र कल्पना अथवा यूटोपिया ही नहीं थी। गाँधी ने अपने जीवन में प्रत्यक्षतः यह सिद्ध कर दिया था कि मनुष्य एक आदर्श जीवन, जो नैतिक मूल्यों पर आधारित हो, व्यतीत कर सकता है। ●



# बिखरते सामाजिक मूल्य – जिम्मेदार कौन ?

डॉ० अरविन्द कुमार सिंह

आज के दौर में भ्रष्ट हुए विना काम नहीं चलता, रिश्वत विना धर्म नहीं चलता, और दो नम्बर के विना धन नहीं मिलता। इन सभी बातों को बल प्रदान करती है १६४७ से लेकर आज तक की हमारी यात्रा। आजादी के बाद जिस तरह से देश में नैतिक मूल्यों का क्षरण हुआ है, वह चौकाने वाला ही नहीं वरन् शर्मसार कर देने वाला भी है।

ट्रांसपैरेंसी इंटरनेशनल इण्डिया और सेंटर फार मीडिया स्टडीज की सर्वे रिपोर्ट बतलाती है कि देश के बीस राज्यों में बिहार सर्वाधिक भ्रष्ट प्रदेश है, यहाँ सभी सेवाओं में अतिभ्रष्टाचार है। उत्तर प्रदेश दसवें स्थान पर है, यहाँ बिजली, स्कूल और आयकर विभाग सर्वाधिक भ्रष्ट सेवाओं के अर्न्तगत आते हैं। यह सर्वे रिपोर्ट २००५ में ११ सुविधाओं के अर्न्तगत २१,०६८ करोड़ रिश्वत की बात बतलाती है।

सिर्फ घोटालों की ही बात यदि की जाय और केन्द्रीय जाँच ब्यूरो व केन्द्रीय सतर्कता आयोग द्वारा उपलब्ध आंकड़ों पर विश्वास किया जाये तो १६४८ से लेकर आज तक विभिन्न घोटालों के अर्न्तगत धनराशि १,८२,६६६ करोड़ ६० लाख रुपये तक पहुँचती है।

यूँ तो हमारे देश में घोटालों की फेहरिस्त बहुत लम्बी है। बात आगे बढ़ाने के पूर्व आइये आपकी याददाश्त को ताजा करने के लिए कुछ घोटालों की चर्चा करें। १६४८ में सेवा के लिये जीपें राइफल खरीदने का ठेका ब्रिटेन को देने के लिए लंदन में तत्कालीन उच्चायुक्त वी. के. कृष्ण मेनन आरोपों के घेरे में थे। अनुमानित घोटाला ३० करोड़ का था। इसी प्रकार १६७५ में मारुति उद्योग को ३०

एकड़ जमीन देने का मामला १०० करोड़, १६८७ में बोफोर्स तोप घोटाला ६८ करोड़, १६८८ में धर्मार्थ चिकित्सालयों को चिकित्सा उपकरण आयात में छूट ५०० करोड़, १६९१ में प. बंगाल बक्फ भूमि घोटाला ११०० करोड़, १६९२ में प्रतिभूत घोटाला ४०,००० करोड़, १६९३ में कोयला, कोलतार, स्कूल ड्रेस आदि २००० करोड़, १६९५ में इण्डियन बैंक घोटाला ३००० करोड़, १६९५ में चारा घोटाला ६५० करोड़, १६९६ में यूरिया घोटाला १३३ करोड़, १६९६ में वैलाडीला हीरा खान घोटाला ५००० करोड़, २००३ में स्टैम्प घोटाला २३ हजार करोड़ प्रमुख है।

चाणक्य ने कहा था – जिस राज-सत्ता के प्रति जनता के मन में आदर भाव न हो उस राज-सत्ता को शासन करने का कोई हक नहीं है। आज वर्तमान में सत्ता के प्रति जनता के मन में घृणा एवं असहायता की स्थिति है। आज के दौर में सत्ता जिनके द्वारा संचालित है उनका वास्तविक स्वरूप चौकाने वाला तथा लज्जित कर देने वाला है।

ऑपरेशन दुर्योधन एवं चक्रव्यूह के अर्न्तगत संसद में सवाल पूछने के नाम पर सांसदों द्वारा (जो सविधान की शपथ लेकर देश सेवा प्रारम्भ करते हैं) पैसा लेना मूल्य क्षरण की सर्वोच्च परा काष्ठा है जो कई यक्ष प्रश्नों को हमारे सामने खड़ा करती है।

समाज के विभिन्न तबकों से हमने इन प्रश्नों के उत्तर तलाशने की कोशिश की है। हमने तीन प्रश्नों के माध्यम से उत्तर तलाशने की प्रक्रिया प्रारम्भ की—

- क्यों हो रहा है समाज में मूल्यों का क्षरण ?
- इसके लिये जिम्मेदार कौन है ?
- कैसे होगी समाज में मूल्यों की स्थापना ?



पवन कुमार सिंह से मुलाकात उनके घर पर हुई। सामान्य कद काठी के, आत्मविश्वास से लवरेज आप उदय प्रताप महाविद्यालय में बी. ए. तृतीय वर्ष के छात्र हैं। बी. ए. द्वितीय वर्ष में सन् २००४-०५ में आपको विद्यालय में सर्वाधिक अंक प्राप्त करने का श्रेय भी प्राप्त है। साहित्यिक अभिरुचि, गम्भीर सोच रखने वाले पवन एक बार जब प्रश्नों के उत्तर देना प्रारम्भ किये तो खुलते ही चले गये—

“समाज में आज जो भी मूल्यों में क्षरण की स्थिति है उसके लिये मैं तीन तथ्यों को ज्यादा दोषी मानता हूँ। पारिवारिक टूटन और आत्माभिव्यक्ति को मैं सबसे पहले रखना चाहूँगा। किस व्यक्ति के साथ क्या व्यवहार करना है इसकी प्रारम्भिक शिक्षा हमें परिवार से मिलती थी। संयुक्त परिवार आज एकांकी परिवार में तब्दील हो गये। शिक्षा की प्रारम्भिक पाठशाला, जिसकी नींव सद्व्यवहार के ईंटों पर टिकी थी, जब वही बिखर गयी तो मूल्यों का क्षरण तो होगा ही। दूसरे शब्दों में, एक दूसरे के विचारों को समझने की स्थिति अपने आप में सिमटे रहने के कारण सही माहौल का निर्माण नहीं कर पा रही है। युवा पीढ़ी को अपने से बड़ों के सामने अपने आप को न समझा पाने का दर्द है। ऐसे में एक संचार की भावना पुष्ट नहीं हो पा रही है। कहीं न कहीं अप्रत्यक्ष रूप से यह स्थिति भी मूल्यों को प्रभावित कर रही है।

शिक्षा की अव्यावहारिकता को मैं दूसरे बिन्दु पर रखना चाहूँगा। आज जो भी शिक्षा दी जा रही है वह व्यावसायिक शिक्षा है। व्यावसायिक शिक्षा का मतलब इससे जीवनयापन के लिये एक साधन मिल जाये, जीविकोपार्जन होने लगे, साधन सम्पन्नता आ जाये किन्तु मानसिक धरातल पर हमें कितना सक्षम होना है और क्या करना है इसका अभाव दिखायी दे रहा है। हम नैतिक शिक्षा

को चाहकर भी अपने पाठ्यक्रम में शामिल नहीं कर पा रहे हैं। इस अव्यावहारिकता की स्थिति में एक अध्यापक और विद्यार्थी के बीच दुरुहता आ रही है। मित्र और मित्र के बीच दुरुहता आ रही है और आगे चलकर व्यक्ति तथा समाज के बीच दुरुहता अपनी जगह बना ले रही है।

सामाजिक असुरक्षा को मैं सबसे महत्वपूर्ण तथ्य मानता हूँ तथा इसे तीसरे बिन्दु पर रखना पसंद करूँगा। आज की स्थिति में यदि आप देखें तो समाज का हर व्यक्ति अपने आपको असुरक्षित महसूस कर रहा है और जब मैं असुरक्षा की बात कर रहा हूँ तो उसका आशय मानसिक, शारीरिक, एवं आर्थिक असुरक्षा से है। सत्ता के द्वारा अपनी जिम्मेदारियों का निर्वहन न होने की दिशा में हम सुरक्षा हेतु प्रभावशाली व्यक्तियों की शरण में जाना पसंद करेंगे जो गलत होगा। हम अपनी भाषा की व्यवस्था को बदल देंगे, जिससे हमारी भाषा गाली गलौज के दायरे में कैद हो जायेगी। हम ऐसा दूसरे व्यक्ति को भयभीत करने के लिये करेंगे। यह सारी स्थितियाँ सामाजिक असुरक्षा से पनपेंगी। और यही कारण है आज का युवा इस व्यवस्था का अंग बनता जा रहा है तथा मूल्यों के क्षरण में सहभागी हो रहा है।

जिम्मेदार कौन है? तो मैं तो यह मानता हूँ कि सबसे पहली जिम्मेदारी परिवार पर आयद होती है। चलिये सबसे निचली पायदान को देखते हैं। परिवार व्यवहार परिष्कार की प्रथम पाठशाला है। बोलते बोलते पवन की आवाज में थोड़ी तेजी आती है, बात एकाएक सवालिया हो जाती है— “आज, परिवार में माँ, बाप, भाई, बहन, दादा और दादी अपने कर्तव्यों का कितना निर्वहन कर रहे हैं? क्या वे अपने बच्चों को पूरा समय दे पा रहे हैं? बड़ी दिलचस्प बात है आज की स्थिति में जितना ज्यादा

माँ, बाप अपने बच्चों से दूर होते जा रहे हैं वैसे ही वह बच्चा अन्य साधनों से अपनी आवश्यकता पूरी करने की कोशिश करता है, गलत दिशा या राह में जाने की कोशिश करता है।”

इसका जिम्मेदार मैं सामाजिक असन्तुलन को भी मानता हूँ। यदि भारतवर्ष के सन्दर्भ में इसे देखा जाये तो सामाजिक असन्तुलन आज एक रोग बन चुका है। जिधर भी आप नजर दौड़ा लें। शिक्षा जगत से लेकर समाज के किसी भी क्षेत्र में इसके दिग्दर्शन आप को हो जायेंगे। जो व्यक्ति सक्षम है, शिक्षित है योग्य है वह अपने उचित स्थान पर नहीं है। सच तो यह है कि उचित और सही मूल्यांकन का अभाव है। अयोग्य व्यक्ति का जहाँ चयन होने की स्थिति हो, वहाँ योग्य का विद्रोह करना, गलत रास्ते को अपनाकर उसे सही करने का प्रयास करना मूल्यों के गिरावट में सहायक बनता जा रहा है।

मीडिया अपनी जिम्मेदारी से बच नहीं सकती। मूल्यों के ध्वस्तीकरण में मीडिया का खुलापन अफीम की गोली साबित हो रहा है। युवा वर्ग का सर्वाधिक आकर्षण मीडिया के प्रति है और इस कमजोरी का फायदा सद्व्यवहार की स्थापना में न होकर मूल्यों के क्षरण के रूप में हो रहा है। मीडिया आज के युवा या देश के नागरिकों को क्या दिखा रहा है, यह ज्यादा महत्त्वपूर्ण हो जाता है। निम्न वर्गीय स्तर से लेकर जो व्यवस्था चलेगी आगे चलकर वही वस्तुतः समाज की थाती बनेगी। इस वर्ग को सर्वाधिक प्रभावित करने की क्षमता मीडिया के पास है इससे भला कौन इनकार कर सकता है।

मूल्यों की स्थापना वहीं से होगी जहाँ से इसका क्षरण हो रहा है। परिवार का खुलापन इसमें सबसे ज्यादा अहम् किरदार निभा सकता है। आज

जो खुलापन भावाभिव्यक्ति का मीडिया पर दिखायी देता है यदि वही अवसर परिवार में उपलब्ध हो तो आपस में एक दूसरे को समझने की भावना ज्यादा प्रबल हो जायेगी और हम ज्यादा से ज्यादा एक दूसरे के करीब आ सकेंगे। गलत रास्ते पर जाते हुए मूल्यों की दिशा सही हो सकती है।

आज के व्यावसायिक दौर में व्यावहारिकता की वापसी मूल्य स्थापना में सहायक हो सकेगी, ऐसा मेरा मानना है। किसी भी स्तर पर हमें व्यावहारिक होना पड़ेगा। कथनी और करनी का साम्य मूल्य स्थापना की सबसे मजबूत कड़ी है। शिक्षक जो समाज का निर्माता है उसे व्यावसायिक मानसिकता से बाहर आना होगा। छात्र की भावनाओं से जुड़कर उसके सर्वांगीण विकास हेतु सार्थक ईमानदार एवं व्यावहारिक पहल उसे करनी होगी। जब मैं यह उदाहरण दे रहा हूँ तो समाज के प्रत्येक क्षेत्र के प्रत्येक जिम्मेदार व्यक्ति की बात कर रहा हूँ। यदि व्यावहारिकता के सन्दर्भ में परिवार और पाठशाला सार्थक ईमानदार एवं व्यावहारिक पहल से जुड़ जाये तो देश में मूल्यों की स्थापना पुनः हो जायेगी ऐसा मेरा विश्वास है।

व्योमेश चित्रवश के लिये पत्रकारिता शौक है, वकालत पेशा है और लिखना शगल है। आप कई सामाजिक संगठनों से जुड़े हुए हैं। बात को संक्षिप्त एवं तार्किक अन्दाज में कहना आप ज्यादा पसंद करते हैं। एक कार्य के सिलसिले में आप मेरे घर आये, बातचीत का सिलसिला चला तो जा पहुँचा समाज के बिखरते मूल्यों पर। वर्तमान में फोरम फार लीगल अवेयरनेस, सोशल एण्ड ह्यूमन राइट्स (फ्लैश) के संयोजक पद को सम्भाले हुए व्योमेश चित्रवश ने बड़ी बेबाकी से अपनी बात रखी-

‘समाज में मूल्यों के क्षरण के लिये मैं दो चीजों को जिम्मेदार मानता हूँ। (१) आदर्शहीनता



की स्थिति (२) आर्थिक महत्वाकांक्षा। बात की शुरुआत आदर्शहीनता की स्थिति से करूँगा। आज युवा पीढ़ी के सामने आदर्शहीनता की स्थिति है। कोई आदर्श नहीं है। हमारे देश में, समाज में यदि हम राम को पूजते हैं, कृष्ण को पूजते हैं तो इसके पीछे कारण था कि राम बनने के लिये कौशल्या या वशिष्ठ का होना जरूरी है।

दूसरा कारण आर्थिक महत्वाकांक्षा का है, रातों रात धनी होने की प्रवृत्ति का है। आज का आदमी काम नहीं करना चाहता वह रातों रात चाहता है कि मैं धनी बन जाऊँ। जब वह देखता है कि उसके बगल में रहने वाला कुछ नहीं करता है, माफिया है, उसके ऊपर एक दो केस लगे हुए हैं और रातों रात उसके बंगले बन जाते हैं, लग्जरी गाड़ियाँ आ जाती हैं, बैंक बैलेंस हो जाता है, उसके आगे पीछे दो चार असलहाधारी घूमने लगते हैं, तो फिर वह सोचता है मैं यह सब क्यों करूँ। मैं भी इसकी तरह होकर रातों रात धनी क्यों ना बन जाऊँ।

इसके पीछे जिम्मेदार कौन सी बात है तो मैं मुख्यतः दो व्यवस्थाओं को जिम्मेदार मानता हूँ। पहला पारिवारिक व्यवस्था तथा दूसरा शिक्षा व्यवस्था—जैसा कि मैंने पहले वाले प्रश्न के उत्तर में कहा कि पारिवारिक व्यवस्था — यदि हमें राम चाहिये तो कौशल्या को लाना ही पड़ेगा। कौशल्या नहीं होगी तो राम भी नहीं होंगे। ठीक यही बात शिक्षा व्यवस्था की है। गुरुजन अपने छात्रों को शिक्षा नहीं दे रहे हैं, वे व्यवसाय कर रहे हैं, वे वशिष्ठ या विश्वामित्र की भूमिका में नहीं हैं। हमारे सामने विश्वामित्र का आदर्श है कि पूरी राजशाही छोड़कर उन्होंने समाज के लिये बीड़ा उठाया। आज शिक्षक धर्म ही कहीं लुप्त हो गया है जैसे पारिवारिक धर्म लुप्त हो गया है। माँ अपने बच्चों को यह नहीं

सिखा पा रही है कि समाज में उसकी वास्तविक जिम्मेदारी क्या है? नैतिकता के प्रति उसकी जिम्मेदारी क्या है?

समाज में मूल्यों की स्थापना के लिए मुझे लगता है कि यदि मैं सारी बातें छोड़ दूँ क्योंकि अभी तक जितने कार्य हुए हैं वे सब पेड़ की डाली काटने के समान हैं। हमें भ्रष्टाचार को मिटाने के लिए, अपने मूल्यों की स्थापना के लिये पेड़ की जड़ को काटना होगा। हम सिर्फ अपनी शिक्षा—व्यवस्था को दुरुस्त कर लें तो हमें लगता है कि हम सारे मूल्यों की स्थापना कर लेंगे क्योंकि शिक्षा—व्यवस्था ही वह धुरी है जहाँ से पूरे समाज को कहीं न कहीं से केन्द्रित किया जा सकता है। थोड़ा लम्बे समय तक प्रयास करना होगा। लेकिन इसके जो परिणाम होंगे दूरगामी होंगे। शिक्षक ही स्वयं आदर्श बनकर शिक्षार्थियों को आदर्श बना सकते हैं।

रौशन कुमार सिंह दुर्गा कुण्ड स्थित जे. आर. एस. से इंजीनियरिंग की तैयारी कर रहे हैं। आप दिल्ली जैसे शहर से इण्टरमीडिएट की पढ़ाई पूर्ण कर इस शहर में आये हैं। बेतिया पश्चिमी चम्पारण बिहार के रहने वाले रौशन समाज में मूल्यों के क्षरण का कारण पाश्चात्यीकरण को मानते हैं। उनका मानना है हमारी जीवन शैली से लेकर शिक्षा प्रणाली तक सभी पर पाश्चात्य शैली का प्रभाव है। पाश्चात्य शैली या सभ्यता हमारे मूल्यों की वाहक कभी नहीं हो सकती। पाश्चात्य सभ्यता को अपनाना अपनी संस्कृति से अपनी जड़ काटने के समान है। कोई राष्ट्र अपनी संस्कृति को भूलकर अपने मूल्यों को जीवित नहीं रख सकता।

शिक्षा को आप इसी आइने में देखते हैं। गुरु शिष्य की पुरानी परम्परा आज पाश्चात्य सभ्यता की भेंट चढ़ गया। वर्तमान शिक्षा प्रणाली व्यवसाय उन्मुख है। उसमें मूल्यों पर जोर नहीं है। आपका



मानना है कि आज जरूरत है मोरल साइन्स पर जोर देने की। नैतिक शिक्षा आज मात्र औपचारिकता का निर्वहन करते हुए कक्षा ८ तक की किताबों में कैद होकर रह गयी है। जरूरत इसको आगे तक जारी रखने की है। जब तक गुरु अपने को शिष्य से लगाव के बिन्दु पर जोड़ नहीं पायेंगे तब तक वह अपने मूल्य उन्हें नहीं दे पायेंगे।

पाश्चात्य सभ्यता का सबसे ज्यादा प्रभाव मीडिया पर है। आज मीडिया के खुलेपन ने सारी नैतिक वर्जनाओं को तोड़कर रख दिया है, जो मूल्य क्षरण में सहायक है। कलतक जिन विषयों पर बच्चे माँ, बाप से बात करने से कतराते थे आज उन्हें परदे पर देख सकते हैं। भोगवादी संस्कृति हमारे मूल्य स्थापन के दृष्टिकोण में कभी सहायक नहीं होगी। आप का मानना है, आज के युवा मूल्यों को सीखने के बजाय अनैतिक विषयों पर ज्यादा बात करते हैं। टी. वी. देखकर बिगड़ रहे हैं।

जिम्मेदारी की जहाँ तक बात है पहले तो खुद की जिम्मेदारी है। अगर आप खुद अपनी संस्कृति को भूलकर दूसरे की तरफ आकर्षित हो रहे हैं, पश्चिमी सभ्यता की तरफ बढ़ना चाहते हैं, तो यह गलत होगा। जो जरूरी है उसे आप अवश्य पश्चिमी सभ्यता से ग्रहण करें पर अपने मूल्यों को न भूलें।

दूसरे बिन्दु पर माता पिता की जिम्मेदारी है। उन्हें अपने बच्चों पर नजर रखनी होगी बच्चे क्या कर रहे हैं कहाँ जा रहे हैं? यह सही है कि आज के बच्चे बोलते हैं कि माता-पिता उनकी निजी जिन्दगी में ज्यादा दखल देते हैं। मैं मानता हूँ अत्यधिक दखल गलत है लेकिन माता-पिता को भी यह अधिकार है कि वे अपने बच्चों के बारे में सम्पूर्ण जानकारी रखें। बच्चे के व्यक्तित्व विकास के लिये यह जरूरी है। इसलिये यदि वह कुछ

गलत कर रहे हैं तो उनका फर्ज बनता है कि वे उन्हें मना करें।

मूल्यों की स्थापना माँ बाप ही कर सकते हैं, माँ बाप का दिया संस्कार ही मूल्य स्थापना का आधार बनेगा। यदि माँ बाप अपने बच्चों पर कन्ट्रोल नहीं रखेंगे तो वे बुरी चीजों की तरफ आकर्षित होंगे और फिर उनका पतन बहुत तेजी से होगा।

डा. बी. बी. सिंह उदय प्रताप स्वायत्तशासी महाविद्यालय के प्राचार्य पद पर काफी लम्बे समय तक रहे। आपकी ख्याति एक कुशल प्रशासक के अलावा कृषि अर्थशास्त्री के रूप में भी है। आपका कहना था—

“समाज में मूल्यों के क्षरण का सबसे बड़ा कारण भोगवादी संस्कृति है। जैसे-जैसे भोगवादी संस्कृति बढ़ रही है उसी प्रकार मूल्यों का क्षरण भी होता जा रहा है। मूल्य और नैतिकता का आपस में काफी घनिष्ठ सम्बन्ध है। कल तक जो इन्सान के लिए साधन था, वह आज साध्य बन गया है। पैसा एक साधन था सुख समृद्धि का, लेकिन आज पैसा ही साध्य हो गया है। पैसा सामाजिक प्रतिष्ठा का मानक बन गया है। जिसके पास पैसा है वही पूज्य है, वही श्रेष्ठ है। दिलचस्प बात तो यह है कि पहले लोग भगवान को साध्य मानते थे आज भगवान साधन है। आज खाओ पीओ और जीयो की संस्कृति का विकास हो रहा है जो समाज के लिये घातक है। वास्तव में यही भोगवादी संस्कृति है। जब व्यक्ति भोग प्रधान हो जाये, खाओ पीओ और जीयो संस्कृति में रम जाये तो मूल्यों का क्षरण तो होगा ही। ऐसे में व्यक्ति से व्यक्ति का सम्बन्ध सर्वाधिक प्रभावित होता है।

इस सम्पूर्ण व्यवस्था के लिये मैं सबको जिम्मेदार मानता हूँ। व्यवस्था में मैं सबसे शीर्ष पर बैठे व्यक्ति की सर्वाधिक जिम्मेदारी मानता हूँ। यह



ऊपर से ही नीचे आयेगी। हमारी भारतीय संस्कृति इस बात की गवाह है कि जब भी हमारे शासक नैतिक रहे हैं, जीवन मूल्य को मान कर जीते रहे हैं तब तब देश ऊँचाई पर गया है। जैसे जैसे शासक मूल्यों से विरत हुए, नैतिकता का त्याग किये वैसे-वैसे देश का विकास अवरुद्ध हुआ है। मेरा मानना है आजकल के शासक नैतिकता के प्रति वचनबद्ध नहीं रह गये हैं। आये दिन अखबारों में सांसद निधि के दुरुपयोग का समाचार हम पढ़ते हैं। मूल्यों के प्रति उनकी कोई प्रतिबद्धता नहीं है। जब शासक ही प्रतिबद्ध नहीं तो मूल्यों का क्षरण तो होगा ही।

इसके लिए हम सभी व्यक्ति जिम्मेदार हैं अपना काम साधने के लिये हर व्यक्ति सुविधा शुल्क देकर अपना काम कराना चाहता है। आज स्थिति यहाँ तक पहुँच गयी है कि व्यक्ति सही काम करने के लिये भी सुविधा शुल्क दे रहा है क्यों कि लोगों में आत्मविश्वास नहीं रह गया है।

थोड़ी बात अध्यापकों की भी करना चाहूँगा। अच्छी तनख्वाह मिल रही है फिर भी वह पैसे के लिये अतिरिक्त कार्य कर रहा है। विदेशी कम्पनियों के सामान बेच रहा है। डॉक्टर सेवा से हटकर पैसे पर अपना ध्यान केन्द्रित किये हुए हैं। हर वर्ग जिम्मेदार है। पूरा वातावरण ही भोगवादी संस्कृति की चपेट में है। आप इसे आर्थिक युग का नाम दे सकते हैं। इस संस्कृति की सबसे बड़ी विशेषता तो यही है कि इसमें व्यक्ति अपना नहीं दूसरों का देखता है।

मूल्यों की स्थापना तभी होगी जब प्रत्येक व्यक्ति, समाजवादी संगठन भोगवादी प्रवृत्ति के प्रति जागरूक हो तथा लोगों में जनजागरण करे। उन्हें शिक्षित करे। सबसे बड़ा कार्य शिक्षा में मूल्यपरक शिक्षा का समावेश होगा और यह उस वक्त अपने

अन्तिम मुकाम पर पहुँचेगा जब उसे व्यवहार रूप में जीवन में उतारा जायेगा।

मैं नहीं जानता इतनी बातचीत के बावजूद समस्या का समाधान मिला या नहीं, लेकिन हाँ ज्यादातर लोगों ने इसे अवश्य स्वीकार किया कि समाज में मूल्यों के बिखराव के पीछे मौजूदा वातावरण— माँ एवं बाप की जिम्मेदारियाँ तथा शिक्षा का सीधा प्रभाव है। जब तक माँ बाप अपनी जिम्मेदारियों के प्रति सजग नहीं होंगे तथा शिक्षक अपने दायित्व का निर्वहन ईमानदारी से नहीं करेंगे तब तक मूल्यों का क्षरण हमारी नियति बना रहेगा।

साथ ही एक कड़वा सच और भी है, लेख का समापन उसी से करना चाहूँगा। एक तरफ जहाँ पश्चिम ने जिज्ञासा के वशीभूत बाह्य जगत की यात्रा प्रारम्भ की उसका परिणाम विकास की उपलब्धि थी, परन्तु आन्तरिक जगत् में व्यक्ति दुःख सन्ताप, अवसाद और तनाव के करीब होता चला गया।

पूरब ने आन्तरिक जगत की यात्रा प्रारम्भ की। परिणाम — मूल्यों की स्थापना, आन्तरिक शान्ति की स्थापना तथा रहस्यदर्शी तथ्यों के अन्वेषण में वह सफल हुआ। विज्ञान पश्चिम की उपलब्धि थी। ध्यान पूरब की उपलब्धि। पश्चिम ने मन की यात्रा की, पूरब ने आत्मा की यात्रा की, एक द्वन्द्वात्मक स्थिति में उलझा मन (मन हमेशा द्वन्द्वात्मक होता है) दूसरे सत्य को उपलब्ध हुआ। यदि शब्दों को कम किया जाय तो सम्पूर्ण खेल मन और आत्मा का है।

आज यह क्रम उलट गया है हम पश्चिम की राह पर हैं, पश्चिम पूरब की राह पर। शायद हमारे मूल्य के क्षरण की वास्तविक स्थिति इसी के

## ऐसा क्यों ?

जिज्ञासा

हम क्यों सोचते हैं कि ऐसा हो जाय, हम यह क्यों नहीं सोचते कि हम ही वैसे बन जायँ? बात अटपटी लग रही होगी, लेकिन जब हम स्वयं का सुधार करेंगे तभी तो आगे कुछ सोचने व करने के योग्य होंगे -

यथा-“ है आत्मज्ञान होता अपने को जानने से, जीवन महान बनता अपने को साधने से।।”

अपने को जानना - अपना परीक्षण करना अत्यन्त दुष्कर कार्य है, इससे हमें अपनी कमियाँ पता चलती हैं। जब हम कोई गलती करते हैं तो हमारी अन्तरात्मा रोकती है, पर हम उस आवाज को सुनते हैं कि नजरअंदाज करते हैं, यह हमारे ऊपर निर्भर है कि हम क्या करते हैं। अपने को जानना अर्थात् अपना लक्ष्य व अपना दर्शन निर्धारित करना कि हमें अपना मन्तव्य कैसे प्राप्त करना है यही हमारे मूल्य हैं कि हम किस डगर से जाते हैं। हमारी डगर सत्यता, ईमानदारी, परिश्रम से सराबोर होगी। किसी भी विषम परिस्थिति में हम अपने मूल्यों से विचलित नहीं होंगे। जीवन संघर्ष है जो बाधाओं का सिर कुचलकर धैर्य के साथ अपने कर्म पथ पर अग्रसर हुआ है। वही महान है जो मर कर भी अमर है क्योंकि उसने अपना जीवन मेहनत व श्रम के आँवे में पकाकर निखारा है।

आज प्रत्येक मनुष्य अपनी ही वाहवाही में लगा हुआ है। उसे अपना ही कहा और किया श्रेष्ठ लगता है, वह न तो किसी की सुनता है और न ही करता है। इस विकट परिस्थिति में हमारी परम्परा और मानवीयता लुप्त होती चली जा रही है। दया, क्षमा, संतोष, आदर के भाव कहीं गुम हो गए हैं। किसी के दुःख व दर्द का हमें एहसास ही नहीं है। मनुष्य की पीड़ा को समझने में हम असमर्थ हैं। हम

भावना शून्य हो गए हैं। सभी रिश्ते की एक व्यथा कथा बनती चली जा रही है। स्वयं को श्रेष्ठ सिद्ध करने की आस में हम क्या कर रहे हैं, इसका अंदाज नहीं है। परिणामतः परिवार विघटित हो रहे हैं, रिश्ते विश्रुंखलित हो चुके हैं। क्या करें? कैसे करें? कुछ समझ में नहीं आता -

‘अब पछताए का होत जब चिड़िया चुग गयी खेत’

यहाँ ऐसा नहीं है? कारण खोजें आखिर ऐसा क्यों? क्योंकि हम अपने कर्तव्य और मूल्यों को विस्मृत कर चुके हैं। हम यह कहते हैं कोई नहीं करता तो हम क्यों करें?

“क्यों करें आँधियाँ रुकने का इन्तजार

आइए हमारे काँधे से काँधा लगाइए।”

सभी सम्बन्ध मृत प्राय हो चुके हैं चाहे वह पिता-पुत्र, पति-पत्नी, भाई-भाई हो। ‘वरिष्ठ भाजपा नेता प्रमोद महाजन पर उनके सगे भाई प्रवीण ने गोली चलाई क्यों? ऐसे अनेकों घटनाएँ हैं जो हर समय घटती हैं-मान मर्यादा, धन-सम्पत्ति को लेकर, सफलता-उन्नति को देखकर। पुत्र पिता पर हाथ उठाता है तो कहीं माँ से जबरन अंगूठा लगवाते हैं, क्यों? क्योंकि हम कुछ विस्मृत कर रहे हैं शीघ्रता से-क्या? अपने मूल्य, अपनी आचरण की सभ्यता। तलाशें, हेरें, नहीं तो न जाने क्या होगा।

आज नारी इंसान नहीं उपभोग की वस्तु है। २ मई २००६, की घटना शिवगंगा एक्सप्रेस में सफर कर रही ‘श्रीमती प्रज्ञा प्रसून सिंह’ पर किसी ने तेजाब फेंक दिया। तो कहीं प्रेमिका के न मिलने पर प्रेमी ने तेजाब फेंक दिया। कहीं बलात्कार, तो कहीं नारी जलायी जा रही है, क्यों? कहीं घर से निकाल दिया गया है। क्यों? नारी का मानसिक व



शारीरिक शोषण हो रहा है। हमारे सम्बन्धी या नजदीकी ही करते हैं, कोई दोस्त ऐसा करता है तो कैसे? मित्रता तो वह पवित्र बंधन है जिसमें निश्छलता व स्वाभाविकता होती है, हम एक दूसरे के करीब होते हैं। यह रिश्ता अपनी नींव अन्य सगे-सम्बन्धियों से विलग होकर रखता है। मित्र हर पल हर घड़ी हमारे साथ जीता है, सुख-दुःख का साथी है। 'कोई आँखों से नहीं देख सकता दोस्ती के जज्बे को क्योंकि दोस्त एहसास है, अंदाज नहीं।' दोस्ती की अपनी मानकता है, मूल्यनिष्ठा है, उससे रूबरू हो उसकी गहराई में उतरें तो जानेंगे कि दोस्ती क्या है।

प्रेमी ऐसा करता है, तो प्रेम को कलंकित करता है, प्रेम त्याग है, समर्पण है, समन्वय है एक-दूसरे का, प्रेम सत्य की बागडोर है, कर्म में लगन है, विपत्ति में धैर्य है, जीवन का सार है, जीवन की आश है, हर सम्बन्ध का श्वाँस है, हर पल की आवाज है। प्रेम शब्दों में अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता है, प्रेम कर्तव्य की प्रेरणा है, भावनात्मक स्तर का जुड़ाव है। हम जिसको समझे ही नहीं थे उसे प्रेम कैसे मान लें। प्रेम का यह विध्वंसकारी और भयावह रूप नहीं हो सकता, यह प्रेम नहीं, उसने प्रेम को जाना ही नहीं, जब वह प्रेम करता तो उसे समझता-क्या मिलन ही प्रेम की परिभाषा है? नहीं न, प्रेम तो विस्तार देता है, संकीर्णता नहीं, हर रिश्ते में प्रेम है। शब्दों पर न जाएँ उसमें निहित उसके अर्थ और मूल्य को जानें। शब्द का प्रयोग सरल पर कार्यान्वित अत्यन्त दुष्कर है। दोष किसका है? तो सबका। हम जानते ही नहीं क्या नैतिक-क्या अनैतिक। कारण मूल्यहीनता-सामाजिक शून्यता। जरूरत है पुनर्निर्माण की, नवनिर्माण में एक कदम भी-एक कदम मूल्य का उठाएँ हम, आश का चिराग जलाएँ हम, समाज का कलुष मिटाएँ हम।

जीवन में अनेक ऐसे मोड़ आते हैं जब हम अपने मूल्यों पर स्थिर रहने में स्वयं को विवश पाते हैं। विद्यार्थी जीवन-आज प्रतियोगी युग है। युवा रोजगार पाने की लालसा व जरूरत हमें कभी-कभी यह सोचने को मजबूर करती है कि आज सफलता, सिफारिश व पैसे की ही नुमाइंदी है। यही आवश्यकता है सोचने की :-

“हर कदम लक्ष्य का शिखर है लेकिन ध्यान की सीढ़ियों पे काई है।”

यह भी समस्या आती है कि हम कुछ अच्छा (आदर्श) करना चाहते हैं या करते हैं तो अगर कोई मेरी निन्दा करता है तो हम कार्य में कैसे संलग्न रहें। अपनी निन्दा सुनकर व्यक्ति उद्विग्न हो उठता है। 'निन्दक नियरे राखिए आँगन कुटी छवाय।'

यह सुनकर हम सोचते हैं बाप रे ! नहीं जरा गौर करें तो हम पाएँगे उसकी कटूक्तियाँ हमें प्रेरणा देती हैं कर्तव्य पथ पर अग्रसर होने के लिए, हमें परिष्कृत करने में हमारा सहयोग करती हैं, जिस प्रवृत्ति विशेष पर वह कटाक्ष करता है मन ही मन हम अपने को खंगालते हैं कहीं ऐसा है तो नहीं और वह आचरण हम भूलकर भी नहीं करना चाहते। इससे हमारा विकास होता है। निन्दा को हमेशा सकारात्मक लें — (निन्दा करके व्यक्ति अपने ही विषाक्त हृदय का परिचय देता है) अन्ततः हमारा ही व्यक्तित्व स्वर्ण की भाँति निखरता है, हमें स्थिर रहना है।

‘अपना सुधार करके देवत्व को निखारें’

यह मानव तन दुर्लभ है। 'बड़े भाग मानुष तन पावा।' हम अनमोल रत्न को क्यों व्यर्थ की बातों में गँवा रहे हैं, किसी की निन्दा करके, किसी से ईर्ष्या द्वेष का भाव रखकर, किसी की सम्पत्ति व सफलता देखकर जलके, हमें क्या मिलेगा सिवाय अपने चारित्रिक पतन के, दुष्प्रवृत्तियाँ कुण्डली मार

आसन जमा लेगीं। हम धन-मान लेकर क्या करेंगे, (अन्त में साथ एको न धेला जुड़ा) जीवन में किसी के काम न आये, किसी की सहायता न किए, प्यासे को पानी पिलाया नहीं, बाद में मन्दिर में जाने से क्या फायदा? मनुष्य के पास से सब कुछ खत्म हो सकता है पर चरित्र, उसका सत्कर्म, उसके मूल्य सदैव उसके साथ रहते हैं अन्ततः —

“बोलना है तो मीठा बोलो,  
कटु बोलना मत सीखो,  
बिछाना है तो फूल बिछाओ,  
शूल बिछाना मत सीखो,  
लगाना है तो बाग लगाओ,  
आग लगाना मत सीखो,  
जलाना है तो ‘दीप’ जलाओ,  
हृदय जलाना मत सीखो।” •

मानव यदि लोभ को ठुकराने का संकल्प ले ले, तो वह समाज में सर्वोच्च सम्मान प्राप्त कर सकता है। संतोष ही मानव का सिर हमेशा ऊँचा रखता है।

—शेख साही

## इतने अरसे बाद

जिज्ञासा

इतने अरसे बाद, कोई ऐसा मिला  
जिसे अपना कह सकूँ  
ऐसा जैसे.....

दरख्तों पे चाँदनी आयी  
पतझड़ से मधुमास आया  
निराशा से आशा आयी  
जीवन में मेरे अभिलाषा आयी  
प्रसुप्त मन कलरवित हो उठा  
ऐसा था उसका रूप  
जैसे भीगा सावन  
जैसे महकता पवन  
जैसे उड़ते विहग  
जैसे चंदा की चाँदनी  
जैसे चातक को स्वाती  
मानो चकवे को चकवी  
मानो सरिता का उछाल  
मानो सुमित की श्वाँस  
जैसे सूरज की निधि  
मेरे लिए वो बन रही आधार  
मेरी अपनी अनुभूति  
मेरा सबल पक्ष  
मेरी प्रेरक शक्ति  
वो हैं मूल्य ‘मानवीय मूल्य’  
जीवन ‘संजीवनी शक्ति’  
इतने अरसे बाद, मिला मुझे  
मेरे कर्तव्य सूत्र का त्राण  
मेरा जीवन सार  
इतने अरसे बाद..... •



## साम्प्रदायिक एकता

डॉ० मसरूर अहमद खाँ

अनेकता में एकता भारत की गौरवशाली परम्परा रही है। यहाँ लगभग हर धर्म के लोग रहते हैं। इस प्रकार किसी न किसी तरह से यहाँ साम्प्रदायिक एकता और धार्मिक सौहार्द हमेशा रहा है। साम्प्रदायिक एकता का अर्थ, विभिन्न सम्प्रदायों के मध्य आपसी सामंजस्य होना होता है। यह भाईचारा या अपनापन व्यक्ति, परिवार, समाज, से लेकर राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर तक का हो सकता है। यह सामंजस्य भौगोलिक, राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक, भाषा, बोली, आचार-विचार, खानपान एवं सामाजिक किसी भी प्रकार का हो सकता है। इतिहास साक्षी है कि आवश्यकतानुसार अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी किसी विशेष बिन्दु को ध्यान में रखकर अनेक राष्ट्रों ने आपसी एवं साम्प्रदायिक एकता कायम की और अपने मकसद में कामयाब भी अवश्य हुए हैं।

इतिहास के अध्ययन से मालूम होता है कि हर ज़माने में किसी न किसी रूप में भारतीय समाज में साम्प्रदायिक एकता का रूप विद्यमान रहा है। भारत का विदेशों के साथ व्यापारिक सम्बन्ध, विदेशी आक्रमण के कारण अपने बचाव या दुश्मन से मुकाबले के लिए एकजुट होकर उनका मुकाबला करना इत्यादि साम्प्रदायिक एकता के ही रूप हैं। विदेशी यात्रियों और सैलानियों के लेखों के अध्ययन से भी भारत में आपसी भाईचारा और साम्प्रदायिक एकता का पता चलता है।

अगर कभी धार्मिक और सामाजिक तौर पर विभेद हुए तो वह लोग इंसानियत (मानवता) का अच्छा नमूना लेकर सामने आये। ऐसे में साम्प्रदायिक एकता स्थापित करने से हर प्रकार की खुशी

लोगों के जीवन में आयी। लोग एक-दूसरे का हमदर्द बन जाते हैं। सुख दुःख का साथी होता है। एक दूसरे के खुशी और गम में शरीक होते हैं। लोग एक दूसरे के दुःख-दर्द को अपना दुःख-दर्द समझते हैं। दूसरे के दुःख को लोग आपस में बाँटते हैं। अगर किसी प्रकार की बहुत बड़ी खुशी भी हाथ लगती है और उस अवसर पर बहुत बड़ा जश्न मनाते हैं, लेकिन वह जश्न उस समय तक प्रसन्नता नहीं देगा जब तक उसमें और दूसरे लोग भी शरीक न हों। क्योंकि अकेले खुशी मनाने में वास्तविक आनन्द नहीं मिलता।

आज लोग नफरत की आग में जल रहे हैं। साम्प्रदायिक सौहार्द का आभाव नजर आ रहा है। लोग एक दूसरे का दुश्मन बन बैठे हैं, एक समाज किसी दूसरे सम्प्रदाय का बैर दिल में पाले बैठा है। हिन्दू मुसलमान का दुश्मन हैं। मुसलमान हिन्दुओं के खिलाफ साजिशें कर रहा है। कहीं इस्लामिक आतंकी संगठनों बनाई जा रही हैं, तो कहीं हिन्दू कट्टर संगठनों के तत्वावधान में हिन्दू धर्म के नाम पर मानवता को कुचला जा रहा है। कहीं मस्जिदें गिराई जा रही हैं, तो कहीं मन्दिरों को बम से उड़ाने का प्रयास जारी है। आखिर यह सिलसिला कब तक चलेगा? कब तक मानवता का खून होता रहेगा? कब तक बेगुनाह लोग मारे जाते रहेंगे? कब तक प्रेम करने वाली माताओं की गोदें सूनी होती रहेगी? कब तक भारत के मासूम और बेगुनाह बच्चे यतीम और अनाथ होते रहेंगे? और कब तक भारत के शरीफ लोगों से भरा पूरा घर उजड़ता और तबाह होता रहेगा?

आज उस नव विवाहिता विधवा से कौन

पूछता है (जिसका शौहर धर्म के नाम पर मारा जाता है) कि तुम कब से भूखी हो? उस मासूम बेगुनाह और अनाथ बच्चे से कौन पूछता है (जिसका बाप साम्प्रदायिक दंगे में मारा जाता है) कि तुम्हारे स्कूल की फीस कितने महीने से बाकी है? किताब कलम तो नहीं घट रहा है? उस आँसू बहाती बूढ़ी माँ से कौन पूछता है (जिसका जवान बेटा नफरत की आग के भेंट चढ़ा दिया गया हो) कि तेरे बुढ़ापा का सहारा कौन है? कोई किसी का पूछने वाला नहीं, लोग नफरत की आग भड़का कर चल देते हैं और शरीफ लोग तबाह होते हैं। आग दूसरा कोई लगाता है और उसका परिणाम भुगतता दूसरा कोई है।

आज मंदिरों में हो रहे विस्फोटों, एक अन्य प्रकार से हो रहे आतंकवादी घटनाओं को ही ले लीजिए। घटनाएं करता कोई और है और उसका परिणाम भुगतता कोई और है। कहीं आतंकी घटनाओं को अंजाम देने के क्रम में अगर कोई मुसलमान आतंकी पकड़ा जाता है और जब लोगों को उसके जात और नाम का पता चलता है कि वह मुसलमान है तो जाहिर है कि लोग सारे मुसलमानों से नफरत करने लगते हैं स्वभाविक रूप से और दिल में यह बात आने लगती है कि मुसलमान ऐसा कर रहे हैं। जिससे मुसलमानों के खिलाफ दिल में बातें पैदा होने लगती हैं, जो स्वाभाविक भी है। आखिर इस तरह लोग खुद से कुछ अनावश्यक और मानवता विरोधी कार्य कर-कर के कौम को बदनाम क्यों कर रहे हैं? ऐसा करते कुछ ही लोग हैं और परिणाम शरीफ लोग भुगतते हैं। ऐसे करनामों का सीधा असर सुसंस्कृत और सभ्य समाज के लोगों पर भी पड़ता है।

अतः लोगों को चाहिए कि संसार के हर मानव को अपना समझे, हर समाज को अपना

समाज समझे, दूसरों के लिए ऐसा कुछ भी न करें जो खुद अपने लिए पसन्द नहीं हो। आपसी भाईचारा, मानव प्रेम, सामाजिक सद्भाव और साम्प्रदायिक एकता कायम करें। यह आज के समाज की सबसे बड़ी आवश्यकता है। इंसानियत को मिटने से बचाने के लिए समाज सेवा के भाव से आगे आने की आवश्यकता है। लोगों को एक दूसरे की जरूरत बनने के लिए प्रकृति ने मानव को मजबूर कर दिया है। इंसान मजबूरी की हालत में साम्प्रदायिक भेद-भाव को वास्तव में भूल भी जाते हैं। यह बात अजीबो गरीब लगती होगी मगर सोचिए, जब कोई इंसान अस्पताल में भर्ती होकर जिन्दगी और मौत के बीच झूल रहा होता है और उसे जीवन की रक्षा के लिए कई बोटल खून की आवश्यकता होती है। डॉ० खून चढ़ाना अनिवार्य बता देता है तो सोचिए ! क्या उस क्षण यह सोचते हैं कि यह हिन्दू का खून है कि मुसलमान का खून है? क्या यह सोचते हैं कि यहूदी का खून है कि ईसाई का खून है? नहीं सोचते ! बल्कि सिर्फ यह सोचते हैं कि एक इंसान की जान बचानी है और यह इंसान का खून है। ब्लड बैंकों में खून रखने वाले थैलों पर रक्तदान के धर्म का नाम नहीं लिखा जाता बल्कि उसके ब्लड ग्रुप को लिखा जाता है। खैर ! बात हो रही थी कि मजबूरी की हालत में इंसान साम्प्रदायिक भेद भाव भूल जाता है। ऐसी हालत में साम्प्रदायिक भेद भाव को भूलने से सच्ची खुशी नहीं मिलती है बल्कि अगर इस मजबूरी की हालत की जगह खुशी से, आत्मा की गहराई से मानव प्रेम के नाते, आपसी सद्भाव की स्थापना के लिए अगर साम्प्रदायिक भेदभाव को मिटा दें और मानवता को जिन्दा रखने के लिए अगर साम्प्रदायिक एकता कायम करें, तो तन, मन से लेकर रोएं-रोएं को खुशी मिलेगी। ऐसी खुशी कि जिसकी मिसाल दुनियां में नहीं मिलेगी।



इबादत—ए-खुदाबन्दी और भगवान की पूजा से भी ऐसी खुशी शायद ही मिल सकेगी। इसलिए चाहिए कि साम्प्रदायिक एकता और आपसी सौहार्द का हमेशा खयाल करें। एक दूसरे के पर्व त्योहारों में सम्मिलित हों। एक दूसरे की खुशी और गम को अपनी खुशी और गम समझें। मानवता की भलाई के लिए हर सम्भव खयाल करें। अखबारों की हेडलाइन को पढ़ कर ताव में न आयें। किसी भी कार्य के होने और न होने के पीछे के कारणों का खयाल करें। क्योंकि किसी भी परिणाम के पीछे कोई-न-कोई कारण कारगर जरूर होता है।

सिर्फ धर्म-धर्म चिल्लाने और धर्म के नाम पर खून बहाने से कुछ फायदा होने वाला नहीं। हिन्दू, मुस्लिम, सिख, ईसाई, पारसी, ज़रतुश्ती किसी भी धर्म का नाम लेकर धर्म के नाम पर झगड़ा फैलाने से धर्म नहीं मिलता बल्कि हर धर्म का पहला उपदेश या हर धर्म का पहला धर्म मानव धर्म होता है। धर्म के नाम पर धर्म-धर्म चिल्लाने से धर्म नहीं मिलता क्योंकि एक दिन धर्म के नाम पर नारा लगाने वालों की आत्मा का मंथन किया और महसूस किया कि धर्म के नाम पर लड़कर परमात्मा तक नहीं पहुँच सकते बकौल उसके :

“पण्डित दुःखी भगवान नहीं मिलता है, मुल्ला दुःखी रहमान नहीं मिलता है। मैं दुःखी इंसानों की इस बस्ती में दूँढने से इंसान नहीं मिलता है।”

साम्प्रदायिक एकता के कई एक रूप अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी इतिहास के पटल से गुजरे हैं। इण्डियन प्रोग्रेसिव राइटर्स एसोशिएशन किसी परिचय की मुहताज नहीं। गुलाम भारत के कुछ युवा छात्रों ने लन्दन में रूसी इंकलाब और हिटलर के संरक्षण में फासिज्म का खतरा और भारत में स्वतंत्रता की लहर पर अंग्रेजों का जुल्म जैसे कारकों ने मिलकर विश्व स्तर पर विश्व सम्प्रदाय को एक किया और दुनिया से अंग्रेजों की हुकूमत को मिटा दिया। यह थी विश्वस्तर की साम्प्रदायिक एकता। भारत में भी हिन्दू मुस्लिम एक होकर अंग्रेजों

के खिलाफ लड़े और देश को आज़ाद किये।

आज आवश्यकता है इसी साम्प्रदायिक एकता की। फिर वही तानाशाही हुकूमत पूरी दुनियां पर हो रही है। अमेरिका को ले लीजिए। उसने सारे विश्व पर कब्जा करने की मुहिम छोड़ रखी है। अगर यही हाल रहा तो साम्प्रदायिक सौहार्द के अभाव में वह विश्व को तबाह कर के रख देगा। आज फिर प्रोग्रेसिव विचारधाराओं एकता की आवश्यकता है।

आज आतंकवाद भी ज्वलंत समस्या है। इसके सामाधान के लिए हर सम्प्रदाय के लोगों को एक होकर धार्मिक सौहार्द और साम्प्रदायिक एकता के बल पर यह सोचने की जरूरत है कि बेगुनाहों को खून बहाने से क्या होगा? उन बेगुनाहों का क्या दोष जो बम से मारे जा रहे हैं? यह भी सोचने की आवश्यकता है कि आतंकवाद असल में है क्या? लोग आतंकवादी क्यों बन रहे हैं? सोशल रिफार्मर का काम करने की बजाए जान लेने और देने पर क्यों तुले हैं? क्या ऐसा नहीं हो सकता कि नफरत के बीज को उखाड़ फेंके और साम्प्रदायिक एकता और प्रेम का पाठ पढ़ायें जो डॉ० इकबाल ने अपनी कविता नया शिवाला में कहा है कि “सच कह दूँ ऐ बरहमन गर तू बुरा न माने—तेरे सनम कदों के बुत हो गए पुराने। अपनों से बैर रखना तूने बुतों से सीख—जंग ने—जदल सिखाया वाएज को भी खुदा ने। तंग आ के मैं आखिर दैरो हरम को छोड़ा—वाएज का वाज छोड़ा छोड़ा तेरे फसाने पत्थर की मूरतों में समझा है तू खुदा है—खाक ए वतन का मुझ को हर जर्ग देखता है। आ गैरियत के परदे एक बार फिर उठा दें — विछड़ों को फिर मिला दें नक्श—ए—दुई मिटा दें। सुनी पड़ी हुई है मुद्दत से दिल की बस्ती आ इक नया शिवाला इस देश में बना दें। शक्ति भी, शांति भी भक्तों की गीत में है—धरती के वासियों की मुक्ति प्रीत में है। और न समझोगे तो मिट जाओगे ऐ हिन्दूस्तां वालों—तुम्हारी दास्तां तक भी न रहेगी दास्तानों में। •



## मालवीय मूल्य अनुशीलन केन्द्र : एक परिचय (MALAVIYA CENTER FOR ETHICS & HUMAN VALUE)

किसी देश का भविष्य उसके विद्यालयों की कक्षाओं में बनता है। यहीं युवा पीढ़ी का मानसिक और बौद्धिक विकास होता है। यहीं वह समाजोपयोगी ज्ञान-कौशल सीखती है। युवा जन का कौशल और उनकी ऊर्जा सामाजिक राष्ट्रीय विकास की सर्वाधिक महत्वपूर्ण आधार शिला है। पर विकास का हमारा लक्ष्य केवल आर्थिक-सामाजिक उन्नति तक ही सीमित नहीं रह जाना चाहिए। हमारा उच्चतर लक्ष्य होना चाहिए, एक सभ्य और मानवोचित समाज के आदर्शों की ओर आगे बढ़ना। इस आदर्श की प्राप्ति के लिए बौद्धिक क्षमता के साथ-साथ देश के भविष्य निर्माताओं की नैतिक, सांस्कृतिक और मानवीय मूल्य चेतना भी विकसित होनी चाहिए। शिक्षा द्वारा मानव विकास के इस मूल्यात्मक पक्ष के महत्त्व को हमारे विश्वविद्यालय के संस्थापक महामना मालवीय जी ने भलीभाँति समझ लिया था। आज से सौ वर्ष पूर्व, १९०५ में प्रकाशित काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की प्रस्तावना में उन्होंने लिखा था—

“व्यक्ति और समाज की उन्नति के लिए बौद्धिक विकास से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है चारित्रिक विकास।..... मात्र औद्योगिक प्रगति से ही कोई देश खुशहाल, समृद्ध और गौरवशाली राष्ट्र नहीं बन सकता। अतः युवाओं का चरित्र निर्माण करना प्रस्तावित विश्वविद्यालय का एक प्रमुख लक्ष्य होगा। उच्च शिक्षा द्वारा यहाँ केवल अभियंता, चिकित्सक, विधिवेत्ता, वैज्ञानिक, शास्त्रज्ञ विद्वान ही नहीं तैयार किए जाएँगे, वरन् ऐसे व्यक्तियों का निर्माण किया जाएगा, जिनका चरित्र उज्ज्वल हो, जो कर्तव्य परायण और मूल्यनिष्ठ हों। यह विश्वविद्यालय केवल अर्जित ज्ञान के स्तर को प्रमाणित कर डिग्रियाँ देने वाली संस्था न होकर सुयोग्य और सच्चरित्र नागरिकों की पौधशाला होगा।”

### मालवीय मूल्य अनुशीलन केन्द्र

की स्थापना की गयी थी। केन्द्र का लक्ष्य है, आधुनिक शिक्षा व्यवस्था एवं आधुनिक समाज के अन्य घटकों (उद्योग जगत, सरकारी कर्मचारी, सामान्य जन) आदि में नैतिक एवं मानवीय मूल्यों की प्रतिस्थापना। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए केन्द्र ने तीन उद्देश्य अपने सामने रखे हैं —

- १) विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों के लिए मूल्य-शिक्षा के कार्यक्रमों का आयोजन करना।
- २) आज के जीवन में उभरते मूल्यगत प्रश्नों एवं समस्याओं का अन्वेषण/विश्लेषण करना और उन्हें हल करने के लिए उपाय प्रस्तावित करना।
- ३) विभिन्न क्षेत्रों में कार्यरत अधिकारियों, प्रबंधकों, वैज्ञानिकों तथा अन्य विशेषज्ञों के लिए नैतिक एवं मानवीय मूल्यों पर आधारित प्रशिक्षण कार्यशालाओं का आयोजन करना।

इन उद्देश्यों को पूरा करने के लिए केन्द्र संप्रति निम्नांकित कार्यक्रमों का संचालन कर रहा है—

- १) विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों के लिए प्रतिवर्ष छः सप्ताह की एक कार्यशाला, जिसका शीर्षक है, “जीवन मूल्य एवं समन्वित मानवीय व्यक्तित्व विकास।” इस कार्यशाला में विभिन्न विषयों पर प्रतिदिन सायंकाल दो घण्टे की संवादात्मक प्रस्तुतियाँ होती हैं। प्रायः एक सौ-विद्यार्थी प्रतिवर्ष इस कार्यशाला में भाग लेते हैं।



- २) उपर्युक्त कार्यशाला से चुने हुए तीस विद्यार्थियों की दो सप्ताह की एक सघन कार्यशाला।
- ३) विश्वविद्यालय के शोधकर्ताओं, अध्यापकों एवं अधिकारियों के लिए विशेष प्रशिक्षण कार्यशालाएं।
- ४) औद्योगिक एवं व्यापारिक प्रतिष्ठानों के प्रबन्धकों के लिए एक सप्ताह की पूर्णकालिक कार्यशाला, जिसका शीर्षक है : 'Human Values for Pursuit of Excellence.'
- ५) प्रतिवर्ष विवेकानन्द जयन्ती १२ जनवरी 'युवा दिवस' पर विद्यार्थियों की संगोष्ठी एवं व्याख्यान।
- ६) 'मूल्य विमर्श' पत्रिका का प्रकाशन।

**केन्द्र द्वारा १९६१ से लेकर अब तक किए गये प्रमुख कार्यक्रम :**

- १) मार्च ३१ से अप्रैल ०१, १९६२ (का०हि०वि० प्लेटिनम जुबली वर्ष १९६१-६२) में आयोजित कार्यशाला, जिसमें विश्वविद्यालय के सभी संकायों के ४३ अध्यापकों ने अपने शोधपत्र प्रस्तुत किए, जिसका शीर्षक था- "University Level Workshop on Values of Academic Life".  
कार्यशाला के बाद वर्ष पर्यन्त साप्ताहिक गोष्ठियाँ एवं विशिष्ट व्याख्यान आयोजित किये गये।
- २) विश्वविद्यालय के सभी संकायों के विद्यार्थियों के लिए "जीवन मूल्य एवं समन्वित व्यक्तित्व विकास" की अभी तक कुल नौ कार्यशालायें आयोजित की गयीं, इनके आयोजन की तिथियाँ एवं वर्ष निम्नलिखित हैं :-

१. फरवरी १-२८, १९६७
२. नवम्बर ६ से दिसम्बर १५, १९६८
३. नवम्बर १ से दिसम्बर २०, १९६९
४. अक्टूबर १७ से नवम्बर २२, २०००
५. अगस्त २५ से अक्टूबर ४, २००१
६. सितम्बर ६ से अक्टूबर ३०, २००२
७. सितम्बर १ से नवम्बर २१, २००३
८. सितम्बर १४ से अक्टूबर १४, २००४
९. सितम्बर १६ से अक्टूबर २८, २००५

- ३) सामान्य कार्यशाला से चुने गये ३० विद्यार्थियों के लिए सघन कार्यशालायें भी आयोजित की गयीं, जिनकी तिथियाँ एवं वर्ष इस प्रकार हैं :-

१. "उत्तम गौरवशाली भारत के निर्माण में एक कदम : जीवन मूल्य" माह फरवरी २००२
२. "जीवन मूल्य एवं समन्वित व्यक्तित्व विकास" माह नवम्बर, २००४
३. "जीवन मूल्य एवं समन्वित व्यक्तित्व विकास" माह नवम्बर, २००५

- ४) विश्वविद्यालय के अध्यापकों के लिए "जीवन-मूल्य एवं शैक्षिक-वृत्ति के 'मूल्य' विषय पर कार्यशाला- अगस्त २-१७, १९६६।

- ५) उद्योग एवं व्यापार जगत से जुड़े प्रतिष्ठानों में कार्यरत अभियन्ताओं एवं प्रबन्धकों के लिए विशेष कार्यशालायें :-

**क. विश्वविद्यालय के बाहर आयोजित की गयीं कार्यशालायें :-**

- १) NTPC, Kahalgaon, March 11-13, 1999.
- २) NTPC, Kahalgaon, February 28 to March 1, 2000.
- ३) NTPC, Kahalgaon, July 19-21, 2001.
- ४) Regional Research Laboratory [(CSIR), Bhubaneswar (Orissa)], October 8-10, 2001.
- ५) National Metallurgical Laboratory (CSIR) Jamshedpur, February 15-17, 2002.
- ६) NTPC, Kahalgaon, March 10-12, 2003.
- ७) Dayawati Modi Academy, Modipuram Meerut, February 6-8, 2004.

**ख. विश्वविद्यालय परिसर में आयोजित की गयीं कार्यशालायें :-**

- १) Power Grid Corporation of India Limited, January 12-15, 2005.
- २) Power Grid Corporation of India Limited, December 5-8, 2005.
- ३) Power Grid Corporation of India Limited, December 4-9, 2006.  
(Communicated).

**६) विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के सहयोग से आयोजित होने वाली कार्यशालायें :-**

१. कला एवं सामाजिक विज्ञान संकाय के शोधार्थियों के लिए – शीर्षक : “व्यक्तिगत जीवन एवं कार्यक्षेत्र में उत्कृष्टता के लिए जीवन मूल्य एवं व्यावहारिक कौशल” (Values and Skills for Excellence in Personal Life and Work Life.) अवधि : अप्रैल ३ से ६, २००६।
२. विश्वविद्यालय के शिक्षकों के लिए – शीर्षक : “व्यक्तिगत जीवन एवं कार्यक्षेत्र में उत्कृष्टता के लिए जीवन मूल्य एवं व्यावहारिक कौशल” (Values and Skills for Excellence in Personal Life and Work Life.) अवधि : जुलाई ३१ से अगस्त १२, २००६ (प्रस्तावित)।

**७) अन्य कार्यक्रम :-**

क) स्वामी विवेकानन्द जयन्ती (१२ जनवरी युवा दिवस) पर आयोजित होने वाली संगोष्ठियाँ, जिसका वर्ष एवं विषय इस प्रकार है :-

१. २००२ – “स्वामी विवेकानन्द जी का युवाओं के लिए सन्देश”।
२. २००३ – “उत्तम गौरवशाली भारत के निर्माण में युवाओं की भूमिका”।
३. २००४ – “कैसा हो एक सभ्य मानवोचित समाज का स्वरूप : स्वामी विवेकानन्द जी की प्रेरणा”।
४. २००५ – “वैश्विक समाज एवं स्वामी विवेकानन्द जी के विचार”।
५. २००६ – “नैतिक उत्थान के लिए स्वामी विवेकानन्द जी की प्रेरणा”।

ख) मूल्य-बोध पत्रिका के जनवरी २००१ से अब तक कुल ६ अंकों का प्रकाशन।

ग) समाज सेवा के कार्यक्रम वर्ष १९६८ से अब तक :-

१. सर सुन्दरलाल चिकित्सालय में असहाय मरीजों के लिए दवा, रक्तदान व अन्य सेवायें।



2. हनुमान प्रसाद पोद्दार अन्धविद्यालय, दुर्गाकुण्ड के छात्रों के लिए पाठ्य सामग्री की रिकार्डिंग तथा उनको सायंकाल पढ़ाना।
3. वृद्धाश्रम, दुर्गाकुण्ड की माताओं की सेवा हेतु विभिन्न कार्यक्रम।
4. पर्यावरण की जागृति हेतु वृक्षारोपण, जनचेतना का प्रसार।

मूल्य शिक्षा के इन प्रयासों के अतिरिक्त नैतिक एवं मानवीय मूल्य-चिंतन को आधुनिक सन्दर्भ में एक व्यवस्थित ज्ञान धारा के रूप में विकसित करना भी केन्द्र का लक्ष्य है। इसके लिए हमें अध्येताओं, विद्वानों एवं चिंतकों का एक ऐसा समूह तैयार करना होगा जो अपने विचारों एवं लेखन से इस नयी ज्ञान धारा को गति दें। पहले का अधिकांश मूल्य चिंतन 'व्यक्ति-केन्द्रित' रहा है। अर्थात् इसका प्रयास रहा है, कैसे किसी व्यक्ति को मूल्यनिष्ठ बनाया जाय। आज इतना ही आवश्यक यह हो गया है कि कैसे सामाजिक व्यवस्था को मूल्यनिष्ठ बनाया जाय? कैसे उसके आर्थिक, राजनैतिक, प्रशासनिक तंत्र की गतिविधियों में, उनकी नीति निर्धारण प्रक्रियाओं में, नैतिक एवं मानवीय मूल्यों का समावेश किया जाय? इस प्रकार के 'सामाजिक व्यवस्था केन्द्रित' मूल्य चिन्तन द्वारा नये विचारों को जन्म देना आज मानवहित एवं समाज हित के लिए अत्यावश्यक हो गया है। मूल्य-चिंतन को इन नयी दिशाओं में प्रवाहमान करने के लिए यह केन्द्र प्रयासरत रहेगा।

आधुनिक यांत्रिक-औद्योगिक सभ्यता ने तथा वैश्विक अर्थव्यवस्था ने ऐसी विकराल वैश्विक समस्याओं को जन्म दिया है जिनसे आज मानव जाति के अस्तित्व पर ही प्रश्न चिन्ह लगने लगे हैं। विश्व के अनेक प्रबुद्ध दार्शनिक एवं विचारक यह मानते हैं कि इन समस्याओं को हल करने के लिए हमें आज एक नये, समन्वयात्मक, मानवतावादी मूल्य-दर्शन की आवश्यकता है। इस वैश्विक मूल्य-चिंतन में भारतीय विश्व-दृष्टि और जीवन-दृष्टि महत्त्वपूर्ण योगदान कर सकती है। विचार-जगत में सक्रियता की इन नई दिशाओं में भी केन्द्र अपनी समुचित भूमिका निभाने का प्रयास करेगा।

हमारा प्रयास होगा कि 'मालवीय मूल्य अनुशीलन केन्द्र' मूल्य-शिक्षा एवं मूल्य-चिंतन के क्षेत्र में एक अग्रणी राष्ट्रीय केन्द्र के रूप में विकसित हो। इस बड़े उद्देश्य को पाने के लिए प्रचुर संसाधनों की आवश्यकता होगी। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय ने अपने उद्देश्यों की पूर्ति हेतु शासकीय सहायता की अपेक्षा जन-सहयोग को अधिक महत्त्व दिया है। इसी परम्परा के अनुरूप हम आशा करते हैं कि आज के प्रबुद्ध एवं सक्षम जन, विशेषतः विश्वविद्यालय के पूर्व छात्रगण, इस केन्द्र के विकास में हमें अपना वैचारिक तथा आर्थिक सहयोग खुले दिल व मुक्त हस्त से देंगे।

---

## केन्द्र द्वारा शोध छात्र-छात्राओं के लिए आयोजित कार्यशाला पर एक रपट

विगत ३ अप्रैल से ६ अप्रैल, २००६ की अवधि में केन्द्र ने शोध छात्रों के लिए एक कार्यशाला आयोजित की थी। कार्यशाला का शीर्षक था, 'व्यक्तिगत जीवन एवं कार्यक्षेत्र में उत्कृष्टता के लिए, जीवन मूल्य एवं व्यावहारिक कौशल'। इसमें तीन संकायों (कला, सामाजिक विज्ञान एवं संस्कृत विद्या

धर्म विज्ञान संकाय) के ४४ छात्र-छात्राओं ने भाग लिया। कार्यशाला में कुल १८ सत्र हुए और प्रत्येक सत्र ढेढ़ घंटे का था। इस प्रकार कुल २७ घंटे चर्चाएं हुईं। कार्यक्रम की समाप्ति पर लिए गए feedback से लगा की कार्यशाला अपने उद्देश्य में सफल रही। सभी प्रतिभागियों ने इस नूतन प्रयोग को अत्यंत लाभप्रद कहा। एक विचार जिसका सभी ने पुरजोर समर्थन किया, यह है कि ऐसी कार्यशालाएँ सभी विभागों/संकायों में नियमित रूप से आयोजित की जानी चाहिए।

एक सत्र हमने प्रतिभागियों के बीच सह-संवाद (group discussion) के लिए रखा था। इसके लिए विषय चुना गया था, 'उत्कृष्ट शोध कार्य करने के लिए हमारे विश्वविद्यालय में क्या कठिनाइयाँ हैं, और उन्हें कैसे दूर किया जाय'। पहले आधे घंटे में प्रतिभागियों से अपने विचार को लिख कर देने के लिए कहा गया और फिर प्रायः एक घंटे में सामूहिक चर्चा हुई। इन लेखों और चर्चाओं से उभरे मुख्य बिन्दुओं को हम आपके सामने रखना चाहेंगे।

१. जिस बात को सर्वाधिक प्रतिभागियों (३५ लिखित उत्तरों में से २२) ने अलग-अलग शब्दों में दुहराया वह है शोध-कर्ता एवं शोध निर्देशक के बीच अच्छे संबंधों का अभाव, सार्थक संवाद की कमी, उचित मार्गदर्शन और प्रोत्साहन न मिलना। एक दो ने तो यह भी कहा कि उनके शोध निर्देशक प्रत्यक्ष रूप से हतोत्साहित करते हैं ('कुछ टेक्निकल काम सीखो। इस शोध-बोध से कुछ नहीं मिलने वाला')। कुछ ने कहा कि यदि हम विभाग के किसी दूसरे शिक्षक से कुछ पूछने जाते हैं तो हमारे शोध निर्देशक नाराज हो जाते हैं। और दूसरे शिक्षक के छात्र को अन्य शिक्षक भी कुछ बताना नहीं चाहते।
२. १२ प्रतिभागियों की दृष्टि में उत्कृष्ट शोध करने में मुख्य कठिनाई है, पुस्तकालय में शोध संबंधी पुस्तकों का न होना, शोध-पत्रिकाओं की कमी एवं पुस्तकालय की दुर्व्यवस्था।
३. इतने ही प्रतिभागियों ने यह भी स्वीकार किया कि मुख्य कारण है शोधार्थियों में ईमानदारी, लगन और गंभीरता की कमी।
४. ८ प्रतिभागियों की शिकायत है कि उन्हें अपनी इच्छा/रुचि का विषय नहीं मिला। शोध विषय निर्देशक ने अथवा विभागीय समिति ने तय कर दिया।
५. इतने ही लोगों ने पारिवारिक-आर्थिक कारणों को एक प्रमुख कठिनाई के रूप में सामने रखा।
६. पांच ने भाषा की समस्या को तथा शोधकार्य में मौलिकता, नवीनता के अभाव को उत्कृष्ट कार्य न हो पाने का कारण माना।
७. चार ने कहा की विभागीय/पारिवारिक/सामाजिक वातावरण उत्कृष्ट शोध कार्य के अनुकूल नहीं है।
८. कुछ अन्य टिप्पणियाँ इस प्रकार की हैं :-
  - क) छात्र-वृत्ति न मिलना - ५
  - ख) शोधार्थी में सृजनात्मकता का अभाव - ३
  - ग) आजीविका की अनिश्चितता - २
  - घ) शोधार्थी में आत्मविश्वास की कमी - २
  - ङ) विभाग के अध्यापकों के बीच आपसी संबंध का अच्छा न होना - १
  - च) शोधार्थियों के लिए आवास की समस्या - १
  - छ) शोधार्थियों के बीच आपसी तालमेल का अभाव - १